रंग संवाद

दिनेश ठाकुर स्मृति विशेषांक

सितंबर 2016

वनमाली सृजन पीठ की
संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे
choubey@aisect.org

संपादक

विनय उपाध्याय
vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता

शब्दांकन : मुकेश सेन

संपादकीय संपर्क :
वनमाली सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : rangsamvad@gmail.com

●●●

ज़रूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमत हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित
मुद्रक - प्रियंका ऑफसेट, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस बार

अंक... दिनेश ठाकुर के बाद... / 5
प्रीता माथुर ठाकुर

नाटक हमें पुकारते हैं / 7
दिनेश ठाकुर से सुजाता शुक्ल की बातचीत

दिनेश ने नाटक जारी रखा / 8
विजय तेंडुलकर

मंचन उनकी प्राथमिकता थी / 13
दीपचन्द सांखला

कुछ गूँजें-अनुगूँजें / 29
प्रयाग शुक्ल

अंक : धर्म, कर्म, शौक और व्यवसाय / 31
देवेन्द्रराज अंकुर

बहुत-सा इतिहास रचना बाक़ी / 33
विश्वनाथ सचदेव

दीनू तुझे सलाम... / 35
जयदेव तनेजा

अंक की अनथक यात्रा / 40
चन्द्रप्रकाश द्विवेदी

अनगिनत हो अंक / 42
अतुल तिवारी

'अंक' और दिनेश ठाकुर / 43
भानु भारती

हम तो रास्ता थे, हैं और रहेंगे / 44
आनंद सिन्हा

दिनेश ठाकुर की कविताएँ / 46

योद्धा रंगकर्मी / 48
सुनील मिश्र

एक स्मृति-यात्रा / 49
डॉली ठाकोर

यादों में अब भी ताज़ा है वो चेहरा! / 49
राजेश जोशी, सतीश मेहता, योगेश परिहार, शोभा चटर्जी, अनूप जोशी, संगीता गुन्देचा, हमीदुल्लाह 'मामू'

यह जुगलबंदी 'अंक' और 'विहान' की / 53
सुदीप सोहनी

सांस्कृतिक हस्तक्षेप की युवा पहल / 55
विनय उपाध्याय

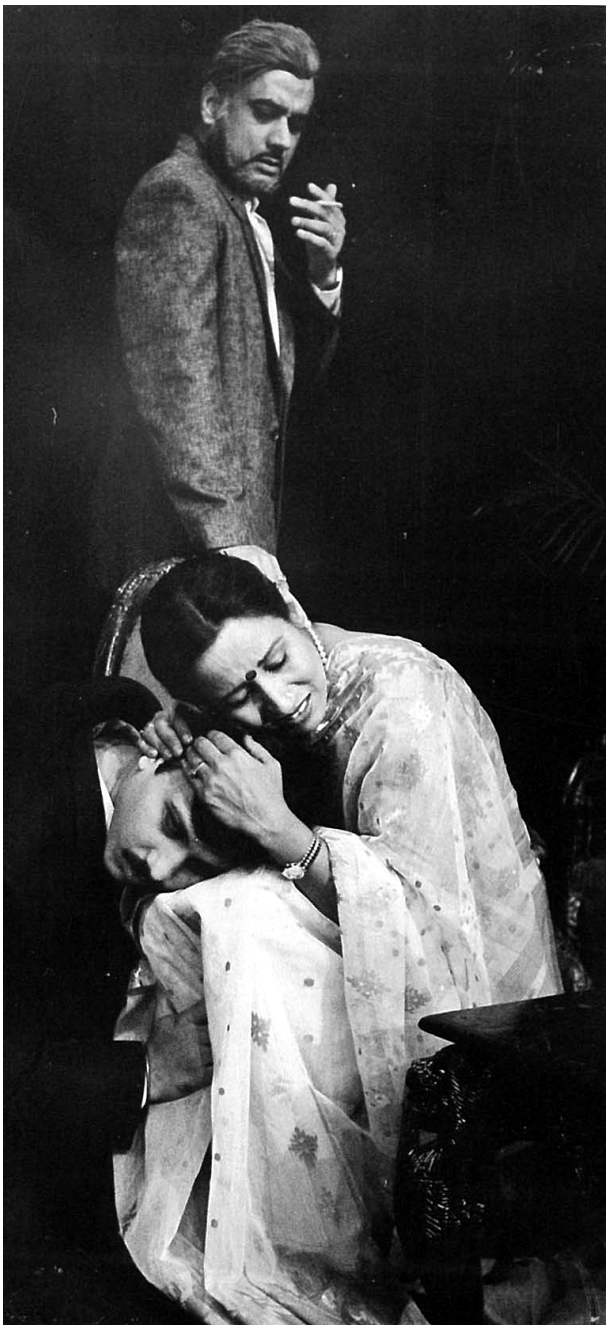

आवरण सज्जा
सौरभ अनंत

इस अंक में विशेष सहयोग
हेमंत देवलेकर

संदर्भ - सामग्री : रंग समूह 'अंक', मुंबई के तीन दशक पूर्ण होने के अवसर पर प्रकाशित स्मारिका तथा अंक का निजी संग्रह

- **आकल्पन :** विनय उपाध्याय
- **भीतर के छायाचित्र :** अंक, मुम्बई से साभार। **सहयोग** : प्रीता माथुर ठाकुर, अमन गुप्ता, सुदीप सोहनी एवं विहान कला समूह, भोपाल।

संपादकीय

यह अंक

सच्चे फनकारों ने कभी भी अपनी दुश्वारियों और मंसूबों का लेखा-जोखा अपने पास नहीं रखा, लेकिन ज़िंदगी की पथरीली राहों पर मुसलसल आगे बढ़ते उनके पाँव के निशानों पर उभरी उम्मीदों की इबारत समय की आँख से ओझल नहीं रही। वक्त के साँचे में अपने सपनों की मूरत गढ़ने की ज़िद लिए दिनेश ठाकुर ने भी तमाम जद्दोजहद कुबूल की और अपनी नाप के घरौंदे बनाने में यह शख़्स कामयाब रहा।

रंगमंच और सिनेमा की रूपहली दुनिया में चली आ रही रवायत के रूबरू एक नई चाल-ढाल का कलात्मक ढाँचा गढ़ने वाला यह शख्स आँकड़ों के अंक गणित में भले ही कुछ पिछड़ गया हो लेकिन ज़िंदगी के जटिल प्रश्नों को खंगालते हुए ठाकुर ने कला की रंगभूमि पर जो पुरज़ोर दस्तकें दीं, उसका हिसाब इतना आसान नहीं। उन्हें इस गिनती की दरकार भी नहीं। उन्होंने ख़ुद अपना 'अंक' रचा। खुद पैमाने तय किये। खरोंचों, मुश्किलों और मुस्कुराहटों का जश्न मनाया। जितनी सांसें हिस्से आयीं, हर लम्हा उन्हें मकसद के साथ जीने का हौसला बटोरा।

...दिनेश ठाकुर अब हमारे बीच नहीं है। लेकिन उनका सपना मरा नहीं है। इसलिए दिनेश ठाकुर की रूह भी बेशक 'अंक' के आसपास ही है। गोया कहते हों- ''खुशबू की तरह मैं तो रहूँगा साथ तुम्हारे, ये और बात है कि दिखाई न दूँ तुम्हें।'' दिनेश के इरादों से दिल्लगी कर उनका हाथ थामने वाली प्रीता इन्हीं तमाम खुशबुओं को 'अंक' में समेटती मुंबई से भोपाल खिचीं चली आयीं। अपने रंगरेज दोस्त की यादों का उत्सव मनाने उन्होंने जब झील-पहाड़ियों के इस शहर को चुना तो उनके यकीन में शामिल होना हम सबका फर्ज़ भी था। भोपाल के सांस्कृतिक पर्यावरण में 'अंक' की इस दस्तक को लेकर खासा उत्साह है। 'विहान' के युवा साथियों ने तीन दिनों के इस स्मृति प्रसंग से जुडी ज़िम्मेवारियों को सहर्ष स्वीकार किया और वनमाली सृजन पीठ ने दिनेश ठाकुर की पोशीदा यादों का गुलदस्ता 'रंग संवाद' की शक्ल में पेश किया है।

शुरूआत से ही हमारे समय की प्रदर्शनकारी कलाओं और उनके आसपास सक्रिय कलाकारों, उभरती आवाज़ों तथा उमड़ती उमंगों को थाम कर 'रंग संवाद' ने आप सबको उसमें भागीदार बनाने की पहल की है। कोशिश यह कि सांस्कृतिक सरोकारों का वजूद बाकी रहे। सृजनशील प्रतिभाओं के नवोन्मेषी प्रयासों को चिन्हित करने तथा उनके वैचारिक उद्धेलन से रचनात्मक रिश्ता बनाने की दिशा में 'रंग संवाद' ने अपनी सुदृढ़ भूमिका का निर्वाह किया है। यह अंक भी दिनेश ठाकुर की रंग-सक्रियता, उनके अभिनव साहसिक प्रयोगों तथा उनकी कलागत मंशाओं में खुद को साझा करता हुआ एक महत्वपूर्ण दस्तावेज की शक्ल ले सका है। निश्चय ही मान्य लेखकों की वजह से 'रंग संवाद' यह स्वरूप ग्रहण कर पाया है। सामग्री के संकलन और चयन में 'अंक' की वर्तमान संचालक प्रीता माथुर ठाकुर और अमन गुप्ता आदि का न भूला जा सकने वाला सहयोग रहा है। रंग चिंतक जयदेव तनेजा, देवेन्द्र राज अंकुर, चन्द्रप्रकाश द्विवेदी, प्रयाग शुक्ल, डॉली ठाकोर, अतुल तिवारी, भानु भारती आदि के आलेख दिनेश ठाकुर के कृती-व्यक्तित्व को देखने-समझने की नई दृष्टि देते हैं।

आपकी प्रतिक्रियाओं का इंतज़ार रहेगा। 'रंग संवाद' से आप रागात्मक रिश्ता बनाये रखेंगे, उम्मीद है।

संतोष चौबे

विनय उपाध्याय

दृश्य तो दृश्य
संवाद भी नहीं बचे
सब ज़र्रा ज़र्रा हो, हवा में मिल गये।
हवा हमारी साँसों से छिन गई
मुस्कुराहटें बर्फ़ हो गईं
और ज़र्द और सख़्त
पर चमकती हैं अब भी!
पथराई आँखों में भी भाव पत्थर बन गड़े हैं।
इसी इंतज़ार में कि पलक झपके
तो दृश्य बदले।
यकसाँ हालात तो ज़िंदा नहीं होते।
और मुसलसल बेचैनी
सीने में दाँई से बाँई तरफ़
थकी-सी ही सही, आती तो है।

-दिनेश ठाकुर

अंक... दिनेश ठाकुर के बाद...

प्रीता माथुर ठाकुर

दिनेश जी की प्रार्थना सभा समाप्त होते-होते दर्शकों में ये फुसफुसाहट -सुगबुगाहट सुनाई देनी शुरू हो गई थी कि बस समझो कि अंक का अंत हो गया।

दिनेश ठाकुर एक बेहद सशक्त व्यक्तित्व के मालिक थे। उनका प्रभामण्डल ऐसा था कि कमरे में उनके कदम रखते ही अनायास निगाहें उनकी तरफ़ उठने लगती थीं और बड़ी आसानी से वो लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने की योग्यता रखते थे और उस पर उनकी गहरी, गूँजती हुई आवाज़ और दूर तक सुनाई देने वाला हँसी का ठहाका, जिसका कोई सानी नहीं।

मेरे ज़हन में यही विचार था कि उनकी सोच, उनकी कल्पनाओं, उनकी योजनाओं को लेकर आगे बढ़ूँ, उनकी कहानियों को एक अंजाम दूँ क्योंकि इतना कुछ अनकहा छोड़कर वो कैसे जा सकते थे, उनको अपनी बात अभी कहनी बाक़ी थी....वो चले गये लेकिन उनकी पीड़ा मेरे साथ-साथ औरों के अंदर भी है। उनके अपने लफ़्ज़ों में- ''रफ़्तारे ज़माना मैं तुझे देख रहा हूँ, / फिर लौट के आना, मैं तुझे देख रहा हूँ।'' और इस पीड़ा से ऊपर उठना तभी सम्भव है जब हम दिनेशजी का प्राप्य उन्हें दें ...कितना कुछ लौटाना बाकी है और उसका सिर्फ़ एक ही रास्ता है कि जो कुछ अनकहा रह गया है उसे कह कर मुकम्मल किया जाये।

दिनेशजी पर ये आरोप हमेशा लगता रहा कि वो ''लोकप्रिय रंगमंच'' करते हैं और दिनेशजी बड़ी सरलता से इस आरोप को ख़ारिज करते थे, ये कहते हुए कि मैं ''रंगमंच लोकप्रिय'' करता हूँ। जब 1976-77 में बादल सरकार के बाकी इतिहास जैसे भारतीय शास्त्रीय नाटकों से अंक की शुरूआत हुई तो दिनेश जी को अहसास हुआ कि ऐसे गहन और प्रगाढ़ नाटकों को देखने वाले बहुत कम लोग हैं ....आमतौर पर ऐसी सोच थी कि हिंदी रंगमंच बहुत ही विचारशील और संगीन है, न कि मनोरंजन का ज़रिया। इस मानसिकता में बदलाव अनिवार्य था। 1978 में जैनिफर कपूर और शशि कपूर जी ने जब पृथ्वी थियेटर की स्थापना की तब हिंदी थियेटर को एक पता मिला लेकिन उस पते पर पहुंचने वाले बहुत कम लोग थे। एक बार लोग थियेटर के अंदर आयें तभी तो आप उन्हें अच्छे थियेटर के बारे में कुछ सिखा सकते हैं और यहाँ सबसे बड़ी चुनौती ही यही थी कि दर्शकों को रंगमंच तक लाया कैसे जाये।

दिनेशजी का एक सबसे बड़ा योगदान यह रहा है कि उन्होंने दर्शकों को अच्छे रंगमंच की सराहना करना सिखाया। हालाँकि यात्रा आसान नहीं थी, लेकिन अपने व्यक्तित्व और बेलागपन के दम पर दिनेशजी कई काम आसानी से कर लिया करते थे। भले ही अधिकांश स्थितियों पर दिनेशजी का नियन्त्रण था लेकिन ये भी सत्य है कि इतने बड़े उद्यम को अकेले चलाना सम्भव नहीं है। एक कुशल टीम या कुछ कुशल और काबिल लोगों का साथ लाज़मी है, इसलिये लोगों की ये सोच कि दिनेशजी के साथ ही अंक का भी अंत हो जायेगा, मुझे बड़ी आश्चर्यजनक लगी। सच कहूँ तो अंक को चलाने की मेरी कोई बहुत गहरी लालसा नहीं थी लेकिन अच्छी तरह जानती थी कि ये करना होगा क्योंकि ये एक ऋण है, दिनेशजी के प्रति, हमारे अपने प्रति और उन प्रतिभाशाली व्यक्तियों के प्रति जिन्होने 40 वर्षों के अथक प्रयास से इस धरोहर को सँवारा है।

लेकिन एक बात का पूरा यकीन था कि रंगमंच के साथ मेरा मधुमास या यूँ कहें कि उत्सवकाल समाप्त हो गया था। मुझे पता था कि सामने बहुत बड़ी-बड़ी चुनौतियाँ आयेंगी लेकिन वो कितनी सघन होंगी इसका अहसास नहीं था और वही सही था।

ये वो वक्त था जब भावनात्मक तौर पर हम टूट चुके थे क्योंकि दिनेशजी की बीमारी के बावजूद हमने एक पल के लिये भी नहीं सोचा था कि वो हमें छोड़कर चले जायेंगे...और वो भी इतनी जल्दी। चले कैसे गये वो? कितना कुछ सोच रहे थे वो, कितनी योजनायें बना रखी थीं, सुनाने के लिये कितनी तो कहानियाँ थीं। एक व्यक्ति जिसके पास विचारों का अम्बार हो, एक व्यक्ति जो ज़िंदगी से बड़ा दिखाई देता हो.... वो जीना कैसे छोड़ सकता है? हो सकता है कुछ संकेत रहे हों जिन्हे मैंने पहचानने से इन्कार किया हो, इच्छाशक्ति की उतरान या शायद शारीरिक कमज़ोरी के कारण थोड़ी सी थकान, जो शायद औरों को नज़र आई हो, जिसका ज़िक्र उन्होंने मुझसे न किया। ठीक भी है... वास्तविक मृत्यु से पहले हम क्यों मरें?

वो निर्जीव पड़े थे लेकिन उनके विचार, उनकी कल्पनायें, उनकी योजनायें, उनकी कहानियाँ फ़िज़ा में मन्डरा रही थीं, कही- सुनी जाने के इंतज़ार में, लिखी जाने की प्रतीक्षा में। ये विश्वास करना बिल्कुल असम्भव था कि अब वो कभी नहीं उठेंगे और हमसे बात नहीं करेंगे। उद्धृत हैं उनकी कविता का एक अंश जो उन्होंने अस्पताल के बिस्तर से लिखी थी और मुझे हाल ही में मिली- ''धुआँ बन के फ़िज़ा में उड़ा दिया मुझको / मैं जला रहा था, किसी ने बुझा दिया मुझको।''

मेरे ज़हन में यही विचार था कि उनकी सोच, उनकी कल्पनाओं, उनकी योजनाओं को लेकर आगे बढ़ूँ, उनकी कहानियों को एक अंजाम दूँ क्योंकि इतना कुछ अनकहा छोड़कर वो कैसे जा सकते थे, उनको अपनी बात

दिनेशजी का जाना बिल्कुल असामयिक था और हम उसके लिये उद्यत नहीं थे। दिनेशजी ने अपनी सेकेंड लाइन तैय्यार करने के बारे में कभी नहीं सोचा था लेकिन उन्होंने जो बीज बो दिये थे तो खुद ही सेकेंड लाइन उभर गई ...हालाँकि उस दु:साध्य दिन 20 सितम्बर 2012 को बीते चार साल गुज़र गये लेकिन हमारा शोक कम नहीं हुआ है । हमने अपनी ताकतों को पहचाना है और दिनेशजी का अधूरा काम पूरा करने में जुट गये हैं।

अभी कहनी बाक़ी थी....वो चले गये लेकिन उनकी पीड़ा मेरे साथ-साथ औरों के अंदर भी है। उनके अपने लफ़्ज़ों में- ''रफ़्तारे ज़माना मैं तुझे देख रहा हूँ, / फिर लौट के आना, मैं तुझे देख रहा हूँ।''

और इस पीड़ा से ऊपर उठना तभी सम्भव है जब हम दिनेशजी का प्राप्य उन्हें दें ...कितना कुछ लौटाना बाकी है और उसका सिर्फ़ एक ही रास्ता है कि जो कुछ अनकहा रह गया है उसे कह कर मुकम्मल किया जाये।

मुझे आगे बढने के लिये ग्रुप को दोबारा से एकत्रित करना था, पुन: संगठित करना था, नई ऊर्जा देनी थी, उसे अभिप्रेरित करना था। ऐसे संवेदनशील और नाज़ुक मोड़ पर एक नेतृत्व प्रदान करना बहुत ज़रूरी था, एक ऐसा नेतृत्व जो किसी को अभित्रस्त नहीं करेगा, किसी का अवरोध नहीं करेगा बल्कि एक सामान्य उद्देश्य के प्रति हम सबको सहानुभूति के साथ बाँध कर रखेगा। हमें पहले की तरह ही उसी दक्षता, प्रभाविता, स्तर और गुणवत्ता के साथ आगे बढना था और यही मेरी सबसे बड़ी उत्कण्ठा थी। सूक्ष्म से सूक्ष्म अंश को भी नज़रअंदाज़ करने की गुँजाईश नहीं थी, ग्रुप का अनुशासन प्रमुख महत्त्व का था। हमें अपने सम्बंध बाहर वालों से भी कायम रखने थे और ये बात सम्प्रेषित करनी थी कि सब कार्य, सब सरोकार पहले की तरह सामान्य हैं और ज़ाहिर है बहुत से लोगों को ये बात गले नहीं उतरी थी।

लेकिन पहले की तरह अग्रसर रहना ही काफ़ी नहीं था, हमें निश्चय ही नये रास्ते, नये आयाम खोजने थे । जबकि मेरे पर्यवेक्षण में पुराने पसंदीदा नाटकों को पुनर्मंचित किया जा सकता था, लेकिन मुझे महसूस हुआ कि नये रक्त को भी शामिल करने की आवश्यकता है और साथ ही सिर्फ़ स्वयं के ही नहीं बल्कि ग्रुप के पुराने और महत्वपूर्ण साथियों के वैयक्तिक विकास के लिये उचित अवसर देना भी उतना ही अनिवार्य है।

अंक ने कभी कभार ही नाटक करने के लिये बाहर से निर्देशकों को आमंत्रित किया था लेकिन अब परिदृश्य बदल गया था- हम अपने निर्देशक को खो चुके थे। दिनेशजी ही हमारे निर्देशक रहे थे और उनके साथ काम करने की हमारी अपनी ही एक शैली रही थी। लेकिन अब वक्त था कि नये दृष्टिकोणों, नये परिप्रेक्ष्यों को भी समझा जाये। हमारे विकास और रंगमंच की दुनिया में अपना स्थान कायम रखने के लिये ये अत्यावश्यक था। दिनेशजी का अंश बहुत गहराई तक हमारे अंदर था, अगर कहा जाये कि हमें बहुत ही आश्रित और संरक्षित शिक्षा-दीक्षा मिली तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी लेकिन हमारे अंदर के उस साराँश को समय के साथ नये माहौल के विभिन्न तरीकों का सामना करने के लिये तत्पर होना होगा।

बहुत से नये लोग हमारे ग्रुप में शामिल हुए, कुछ निर्देशक नया नाटक करने का प्रस्ताव लेकर हमारे पास आये और कुछ दूसरे राष्ट्रीय ख्याति के निर्देशकों के पास हम गये, जो अंक के मित्र भी रहे हैं।

अंक द्वारा विभिन्न प्रकार के नाटक प्रस्तुत किये गये जैसे कृष्णा सोबती के उपन्यास ''मित्रो मरजानी'' का मंचन, ''कामिया'' जिसमें भाववाचक और यथार्थवादी तकनीकों का एक साथ प्रयोग किया गया और ''अटके भटके लटके सुर'' दो एकल अभिनयों का समकालीन कार्य। हमने एक ग्रुप के तौर पर देवेंद्र राज अंकुर, रामगोपाल बजाज और अशोक मिश्रा जैसे अनुभवी और वयोवृद्ध निर्देशकों और लेखकों से बहुत कुछ जाना और सीखा। आगे का रास्ता खुला है नये सहयोगों के लिये, विभिन्न स्थानों पर नये संघों और नई प्रस्तुतियों के लिये।

प्रयास इस बात का भी है कि अपने खुद के आंतरिक निर्देशक तैयार किये जायें और हम आंतरिक तौर पर स्वयं ही प्रकाश एवं ध्वनि व्यवस्था के साथ-साथ दूसरी तकनीकी आवश्यकतायें संभालने योग्य हो जायें। दिनेशजी की जगह कोई नहीं ले सकता और लेनी भी नहीं चाहिये, लेकिन उन्होंने हमें पर्याप्त तौर से प्रशिक्षित किया है जिससे कोई हमें रोक न पाये और इसलिये हमारे साथ अमन गुप्ता हैं जो एक कुशल अभिनेता होने के साथ साथ निर्देशक बनने की तैय्यारी मे हैं और रंगमंच की तकनीकों को सम्भालने की योग्यता भी रखते हैं। अतुल माथुर हैं जो पहले ही बीवियों का मदरसा नाटक के पुनर्मंचन का निर्देशन कर चुके हैं, मैं अपने ही निर्देशन में होने वाले नाटक के आलेख पर काम कर रही हूँ और भी बहुत सारे प्रतिभावान और निपुण अभिनेता नेपथ्य में हैं और साथ ही बहुत सारे नये विचार भी....

दिनेशजी का जाना बिल्कुल असामयिक था और हम उसके लिये उद्यत नहीं थे। दिनेशजी ने अपनी सेकेंड लाइन तैय्यार करने के बारे में कभी नहीं सोचा था लेकिन उन्होंने जो बीज बो दिये थे तो खुद ही सेकेंड लाइन उभर गई ...हालाँकि उस दु:साध्य दिन 20 सितम्बर 2012 को बीते चार साल गुज़र गये लेकिन हमारा शोक कम नहीं हुआ है । हमने अपनी ताकतों को पहचाना है और दिनेशजी का अधूरा काम पूरा करने में जुट गये हैं।

अंक के लिये रंगमंच दिनेश ठाकुर का उत्सव है और उससे भी ज़्यादा...

दिनेशजी गये नहीं हैं ...चलते जा रहे हैं-

''फ़िज़ा में हर तरफ़ आप ही छाए हैं, ज़माने को अपना कर्ज़ तो चुकाना ही होगा''

नाटक हमें पुकारते हैं

दिनेश ठाकुर से
सुजाता शुक्ल की बातचीत

'अंक'से पहले थिएटर की दुनिया से आप किस तरह जुड़े थे?

मेरे प्रोफेशनल थिएटर की शुरुआत 1964 में दिल्ली की एक संस्था 'यात्रिक' के साथ हुई। वहाँ हिन्दी नाटक 'अज़र का ख़्वाब' खेला गया था। मैंने उसमें छोटा-सा रोल किया, जिसके लिए मुझे 25 रु. मिले। सत्रह साल का था जब मैंने नाटक में काम शुरू किया। 'यात्रिक' के बाद 'दिशान्तर' से भी जुड़ा। मैं ओम शिवपुरी के पास गया था स्पीच और ड्रामा सीखने। 'आधे अधूरे', 'तुग़लक़', 'कंजूस', 'रणदेवता', 'रहूँ न रहूँ' जैसे नाटकों में काम किया। उस समय अभिनेता को सब काम करने होते थे, मैं बैकस्टेज का काम भी देखता, लाइट्स, टिकट्स से लेकर नाटक के विज्ञापन के लिए पर्चे छपवाने, उन्हें दीवारों पर लगवाने तक की मेरी पूरी ज़िम्मेदारी होती थी।

मैं किरोड़ीमल कॉलेज में पढ़ रहा था और वहीं की नाट्य संस्था 'दि प्लेयर्स' में भी सक्रिय था। हमारे प्रोफेसर इंचार्ज थे फ्रैंक ठाकुरदास, शायद उन्हीं के कारण मैंने थिएटर को गम्भीरता से लिया। बी.एम. शाह साहब, ब.व. कारन्तजी, विरेन्द्र शर्मा, विरेन्द्रनायारण, डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, रामगोपाल बजाज, मोहन महर्षि, ओम शिवपुरी, अल्काज़ी साहब के साथ भी मैंने काम किया। पहले कॉलेज और फिर 'यात्रिक' और 'दिशान्तर' मेरे लिए सम्पूर्ण रंगकर्मी के रूप में ट्रेनिंग ग्राउण्ड थे।

70 के दशक के अन्त में मुझे बासु भट्टाचार्य ने बुलाया, 'अनुभव' फिल्म में काम करने के लिए। तब मैं पहली बार मुम्बई आया। यह मेरे फ़िल्मी कैरियर की शुरुआत थी। 1973 तक काम बढ़ गया था। इसलिए मुम्बई में घर लेना पड़ा। इस बीच यहां की बहुत-सारी संस्थाओं में भी जाना हुआ। लोगों से मिला, लगा नहीं कि किसी ने बहुत उत्साह दिखाया हो मेरे साथ काम करने का। 1975 की बात है, यहाँ हम लोग एक नाटक आईएनटी के साथ करने वाले थे। नाटक था सुरेन्द्र गुलाटी का- 'शाबाश अनारकली'। उसकी खूब तैयारी हुई, रिहर्सल हुई। यहाँ स्क्रिप्ट सेंसर कराना पड़ता है, वो स्क्रिप्ट 1975 का ही सेंसर्ड था। नाटक सीधे इशारा कर रहा था इन्दिरा गाँधी और संजय गाँधी पर। इमरजेंसी का टाइम था। लोगों को लगा कि अगर बाद में बन्द कर देना पड़ा तो क्या होगा। इसलिए उसे तभी बन्द कर दिया गया। लेकिन उससे फायदा ये हुआ कि उस नाटक से जुड़े हम जो सात-आठ लोग थे, वो लगातार मिलते रहे। और हमने सोचा क्यों न हम ही एक नाटक करें और हमने नाटक 'बाक़ी इतिहास' की रिहर्सल शुरू कर दी। उन दिनों छबीलदास हॉल में थिएटर हुआ करता था, जो कमर्शियल नहीं था। तब पृथ्वी बना नहीं था। रिहर्सल के दिनों में ही आईएनटी वाले भी आ गए, कि आप यह नाटक कहाँ करेंगे, हम आपको सारी सुविधाएँ देंगे।

अन्ततः वो नाटक आईएनटी के लिए हुआ। वो लोग इस नाटक को ज़्यादा दिन नहीं चला पाए, छह शोज़ के बाद नाटक बन्द हो गया। दो कानपुर में हुए, चार यहाँ हुए। उन्होंने नाटक बन्द कर दिया लेकिन हम सब एक साथ जुड़ चुके थे।

क्या तब तक आपके मन में 'अंक' की शुरुआत का ख़याल आया था? 'अंक' नाम कैसे चुना गया? और ग्रुप की शुरुआत कैसी रही?

मैं तो निश्चित रूप से नहीं चाहता था कि कोई ग्रुप शुरू करूँ और यहाँ पर फिर इतना समय भी नहीं था। फ़िल्म का कैरियर उठान पर था उस समय। यह लगा था, किसी के साथ काम करते हैं, जब भी समय मिले थिएटर करूँगा। ग्रुप तो शुरू करना पड़ा और फिर यह होता चला गया।

छिहत्तर की गणेश-पूजा में हमें एक नाटिका करने के लिए कहा गया, वो 'प्रस्ताव'। चेखव का नाटक है- 'प्रपोज़ल', उसका रूपान्तर था। जो बाद में बान्द्रा में बंगालियों की दुर्गा-पूजा में भी खेला गया। और यहीं से अंक की शुरुआत भी हुई। लेकिन शुरू के प्रदर्शन आमतौर पर गणेश-पूजा, दुर्गा-पूजा जैसे आयोजनों में ही होते रहे। 'प्रस्ताव' के बाद 'सालगिरह' नाटक भी किया। 'बाक़ी इतिहास' आईएनटी के लिए करने के बाद ग्रुप तो बन ही गया था। 'अंक' एक नाम मेरे मन में आ गया। मुझे लगा छोटा-सा नाम है और सारगर्भित भी है। अंक के कुल नौ अर्थ तो मुझे मालूम हैं। लोग कहते हैं कि उन्नीस अर्थ हैं। सन अठहत्तर में अंक का विधिवत बैंक अकाउण्ट खुला। रजिस्ट्रेशन 82 में हुआ। लेकिन तब हम सिर्फ 5 लोग ही रेग्यूलर थे- मीनाक्षी, ब्रजभूषण साहनी, श्रीचन्द माखीजा, नरेश सूरी और मैं।

'पृथ्वी' ने हिन्दी रंगमंच की स्थापना और प्रगति में बहुत बड़ा योगदान दिया है। 'पृथ्वी' अठहत्तर के नवम्बर महीने में खुला। अठहत्तर में जब हमने सोचा कि अब अंक को रेग्यूलर शुरू करेंगे तो 'बाक़ी इतिहास' के अलावा दो और नाटक शुरू किए गए थे। 'काग़ज़ की दीवार' हंगेरियन नाटक का हिन्दी रूपान्तर और 'हाय मेरा दिल', अठहत्तर के सितम्बर माह में लखनऊ में ओपन हुए थे। लखनऊ और कानपुर, दो जगह हमने तीन-तीन नाटक के एक-एक प्रदर्शन किए। छह प्रदर्शन किए। सोचकर गए थे कि बहुत टिकट बिकेंगे क्योंकि 'बाक़ी इतिहास' के बहुत टिकट बिके थे, जिन लोगों ने हमें बुलाया था, खूब पैसे कमाए थे। तो हमने भी यही सोचा था। उन दिनों इसमें मैंने करीब अट्ठावन हजार खर्च किए थे। सब डूब गए। दर्शक तो आए, लेकिन टिकट नहीं बिके। इन शहरों में टिकट लेकर नाटक देखने का चलन नहीं था और आज भी यही स्थिति बनी हुई है। और यह महज़ इत्तफाक है कि अठहत्तर के बाद से हम लखनऊ, कानपुर परफॉर्म करने कभी नहीं गए, न ही बुलाए गए। अनुभव तो बहुत अच्छा था। लेकिन, उनके हिसाब से किसी के एक दिन में अगर 3400 रु. के टिकट सेल हो जाएँ तो यह भी बहुत अच्छी बात है, वरना वह भी नहीं होता है। हम लोगों के नाम (उन दिनों दिनेश ठाकुर बहुत बड़ा नाम था) और 'फिर मुम्बई से नाटक आया है' की वजह से-भीड़ तो बहुत भयंकर थी, लेकिन टिकट लेकर देखने वाली नहीं थी।

जब आप मुम्बई आए उस समय दिल्ली और देश के दूसरे शहरों में थिएटर का कैसा परिदृश्य था?

सड़सठ से बहत्तर (67-72) तक का जो युग था वो हिन्दी रंगमंच का स्वर्णयुग था। दिल्ली और देश के दूसरे शहरों में भी बढ़िया-बढ़िया नाटक लिखे जा रहे थे, किए जा रहे थे। दिल्ली में यह वो समय था, जब हर सप्ताह कम-से-कम 4-5 नाटक हो रहे होते थे और किसी भी नाटक का टिकट नहीं मिलता था।

कौन-सा वर्ग नाटक देखने आता था, उस दौर में?

उच्च मध्यवर्गीय लोग या स्टूडेंट्स आते थे, या ब्यूरोक्रैट्स आते, जो कभी टिकट नहीं लेते। उन दिनों टिकट रेट ज़्यादा से ज़्यादा 5-10, 15-20 रु. होता।

दिनेश ने नाटक जारी रखा

अंक के साथ मेरा रिश्ता बहुत पुराना है। मैं दिनेश ठाकुर (और दिल्ली में राजिन्दर नाथ) का विशेष रूप से आभारी हूँ जिन्होंने पिछले वर्षों में मेरे कई नाटकों को ज़िन्दा रखा, क्योंकि मैं मानता हूँ कि नाटक मंच पर ही जीवन पाता है। कोई नाटक या नाटककार मंच पर आने से पहले ही मर जा सकता है। रंगमंच पर लगातार मंचित होने से नाटककार को जीवन मिलता है और यह चीज़ हिन्दी रंगकर्म में नहीं है। ये दोनों निर्देशक हिन्दी में मेरे नाटक लगातार करते रहे हैं, इस कारण मैं हिन्दी में जाना जाता हूँ।

मेरा काम हिन्दी रंगमंच पर सत्यदेव दुबे के कारण गया, नहीं तो मैं केवल मराठी रंगमंच तक ही सीमित रह जाता। अगर कोई किसी नाटककार को मंचित करता है तो वह उस लेखक से अधिक मूल्यवान होता है जो केवल विश्वविद्यालयों में पाठ्यक्रमों में पढ़ाया जाता है। इसलिए मैं दिनेश ठाकुर का ऋणी हूँ। अंक के साथ मेरी एक और स्मृति जुड़ी है- मेरी बेटी प्रिया ने कुछ समय उसमें काम किया था और मैं उसे कभी भूल नहीं सकता।

कभी-कभी, कोई नाटक मूल भाषा में उतना सफल नहीं हो पाता, जैसे कि 'अंजी' मराठी में असफल रहा, कई वर्षों से उसे वहाँ नहीं किया गया, लेकिन दिनेश इसे हिन्दी में अब भी कर रहे हैं। निश्चय ही, मैं वसंत देव के अप्रतिम योगदान को भुला नहीं सकता जिन्होंने मेरे कुछ नाटकों के हिन्दी में अनुवाद किए हैं। वे स्वयं एक लेखक और सृजनात्मक व्यक्ति थे। अच्छे संवादों में काफी कुछ अनकहा रहता है और एक अच्छा अनुवादक वह भी सुन लेता है जो कहा नहीं गया है। वसंत देव शैली और शब्दावली के उस्ताद थे। मेरे विचार में दिनेश ने कई नाटक इसलिए नहीं किए क्योंकि उनके अच्छे अनुवाद उपलब्ध नहीं थे।

मैंने अंक के पहले प्रदर्शन देखे हैं जिसमें मीनाक्षी ठाकुर और प्रिया ने अभिनय किया था- और मुझे कहना चाहिए कि मैं मीनाक्षी को 'मिस' करता हूँ- वह जन्मजात अभिनेत्री थी और 'ख़ामोश! अदालत जारी है' में उसका अभिनय सर्वश्रेष्ठ था। अंक की 'कमला' की प्रस्तुति भी लाजवाब थी।

दिनेश स्वयं एक अच्छे अभिनेता हैं। उसका अच्छा व्यक्तित्व है और वे रंगमंच से प्रेम करते हैं। यही ज़रूरी है। आप जो करते हैं, अगर उसमें रुचि नहीं लेते हैं तो कोई प्रस्तुति बस तकनीकी दृष्टि से ही अच्छी होगी। लेकिन दिनेश नाटक के पहले आदमी हैं और वे रंगकर्म में अपने को पूरी तरह झोंक देते हैं। कोई भी संस्था जो 30 वर्ष से चल रही हो, जिस तरह अंक चल रहा है, तो उसमें समस्याएँ तो आएँगी ही। बदलाव अनिवार्य है, अभिनेता उतने अच्छे न भी हों तो भी प्रदर्शन जारी रहता है। दिनेश ने यही किया। प्रदर्शन जारी रखा और यही हिन्दी रंगमंच को और मेरे नाटकों को उसका योगदान है।

-विजय तेंडुलकर

मुम्बई में कैसा माहौल था थिएटर का? कौन-से ग्रुप्स छाए थे?

जब मैं यहाँ आया तो उस समय यहाँ कुछ संस्थाएं सक्रिय थीं, उनमें एक तो इप्टा, मुम्बई थी, जो लगातार काम कर रही थी। तेजपाल हॉल में वो हर शुक्र को शो किया करते थे। चूँकि इप्टा में फिल्म की बड़ी-बड़ी हस्तियाँ काम करती थीं, तो इप्टा में ऑडियंस भी आती थी। उनके अपने मैम्बर्स के अलावा भी टिकट बिकते थे। दूसरी तरफ सत्यदेव दुबे का 'थिएटर यूनिट' था। वे छबीलदास के अलावा तेजपाल, भाई थिएटर, वो मुम्बई-भर में परफॉर्म करते थे। ये दो संस्थाएँ तो काफ़ी अग्रणी थीं उन दिनों, इसके अलावा छोटे-छोटे और भी ग्रुप्स थे जो यदा-कदा काम किया करते थे। सागर सरहदी भी बीच-बीच में नाटक लिखा और किया करते थे।

उस समय फ़िल्म देखना महँगा था या नाटक देखना?

तब फ़िल्म के टिकट एक-सवा-ढाई रुपए के होते थे। नाटकों के टिकट तीन रुपए, पाँच रुपए के हुआ करते थे। शायद बड़े थिएटरों में दस रुपये के भी होते थे। मैं तो नहीं गया इतने महँगे टिकट पर और दिल्ली की तरह भीड़ भी नहीं थी मुम्बई में। मराठी और गुजराती रंगमंच चरम पर था उस समय।

जिस शहर से आपने शुरुआत की है, वहाँ कभी वापस जाकर परफॉर्म करने की इच्छा होती है?

अपने-आप तो नहीं जाएँगे। क्योंकि इसमें करीब पाँच-सात लाख रुपए खर्च होंगे बल्कि इससे ज़्यादा ही हो सकते हैं।

शुरुआत में 'अंक' को स्टैबलिश करने में क्या दिक्कतें आईं?

सबसे बड़ी दिक्कत थी सही नाटक का चुनाव। क्योंकि 79 में हमने नाट्योत्सव किया था। इसमें 'बाक़ी इतिहास' के अलावा- 'सुनो जनमेजय', आद्य रंगाचार्य का नाटक था। और ब्रजमोहन शाह का नाटक 'शह ये मात' था। ये तीन नाटक थे। 6 प्रदर्शन थे, यह नाट्योत्सव 6 दिन का था। उस ज़माने में 'पृथ्वी' में एक ही शो होता था और यह भी तय नहीं होता था कि छह बजे करें कि सात बजे करें या 8 बजे। यह सब काफ़ी दिनों तक चला। इन 6 शोज़ का कलेक्शन सिर्फ 120 रुपए का था। पहले 'बाक़ी इतिहास' में मेहमान काफ़ी थे, 30-40 लोग थे। लेकिन दो ही टिकट बिके। दूसरा शो अगले रोज़ हुआ उसमें 4 टिकट बिके। उसमें तीन टिकट शशिकपूर साहब ने लिए-शशिकपूर, जेनेफर और शायद संजना-जो उन दिनों बहुत छोटी थी। उन दिनों टिकट 3 रु. और 5 रु. के थे।

मुम्बई में भी क्या उन दिनों बिना टिकट लिए थिएटर देखने का चलन था?

टिकट लेकर देखने का चलन हिन्दीभाषियों में आज भी नहीं है। हिन्दीभाषी ऑडियंस जो मुम्बई में है, जो सिर्फ़ दो या तीन फ़ीसदी है। आज मुम्बई शहर में जो हिन्दी रंगमंच ज़िन्दा है, वो गुजराती भाइयों की वजह से है। वो लोग नाटक देखते हैं और बराबर टिकट लेकर देखते हैं। हिन्दी थिएटर है ही उनकी वजह से ज़िन्दा। वो मान देते हैं अभिनेता-रंगकर्मी को। हिन्दीभाषी लोग रंगकर्मी को कोई मान नहीं देते, वो बुलाए जाने पर आ जाते हैं, वो भी कृपा करने के लिए। आज तीस साल हो गए अंक को काम करते हुए। 20-25 साल 'एकजुट' को काम करते हो गए, 'यात्री को काम करते 25 साल, इप्टा को 65 साल हो गए। फिर भी लगातार टिकट खरीद कर आने वाला हिन्दीभाषी रंगदर्शक पैदा नहीं हो सका, पहले तो था ही नहीं, अब यह है कि दो-तीन फीसदी लोग आ जाते हैं। हास्य कवि-सम्मेलनों में भीड़ की भीड़ जाती है, 'कल्चर' है!

'दूरदर्शन' पर भी शुरुआत में नाटक दिखाए जाते थे, क्या अब वो सिलसिला भी ख़त्म हो चला है?

'दूरदर्शन' तो आज बाज़ार है न, वो नाटक करवाएँ आपसे तो उसके लिए स्पांसर मिलने चाहिए, एड रेवेन्यू मिलना चाहिए, वो तो मिलता नहीं है। ये तमाम फ़िल्मी चीज़ों को मिलेंगे, नाटक को कहाँ मिलेगा? मराठी नाटक होता है। हमने पहला नाटक दूरदर्शन के लिए किया था- 'बीवियों का मदरसा'। 'जाति हि पूछो साधु की' आखिरी नाटक किया था। 1984 में 'हाय मेरा दिल', उसके बाद से उन्होंने कोई नाटक मुम्बई दूरदर्शन पर नहीं करवाया।

अंक और दिनेश तैर रहे हैं

वक्त ही बताता है, कौन कितने पानी में है! दिनेश हमेशा गहरे पानी में रहा है। गहरे पानी में तैराक तैर भी लेता है, और डूबने का ख़तरा भी लगा रहता है। लेकिन जब पाँव तह में न लगें, तो हाथ-पाँव मुसलसल चलते रहते हैं। बचे रहने का वही एक तरीका है।

जब से देखा है दिनेश को, उसकी जद्दोज़हद जारी है। देहली में थिएटर करते-करते मुम्बई आ गया, कुछ नए उफ़क़ खोलने के लिए। एक रोज़ सलिल चौधरी के यहाँ मिल गया और 'मेरे अपने' में शामिल हो गया। अब तक मेरे अपनों में गिनता हूँ। बहुत-सी उम्दा फ़िल्में कीं, बहुत उफ़क़ खोले। लेकिन अदाकार के हाथ में रोल का इन्तेख़ाब नहीं होता। दिनेश कुछ-कुछ घुटने लगे। मैंने उनके वो दिन भी देखे हैं जब घण्टों मेरे यहाँ बैठे ओम शिवपुरी से बहस करते थे और खीजते थे इस बात पर कि वो राजेश खन्ना जैसे सुपरस्टार के साथ रहकर भी कैसे-कैसे ख़राब रोल कर रहे हैं!

दिनेश की खुद्दारी ने हाथ पकड़ा और उसे वापस थिएटर में ले गई। उसने अपना ही एक ग्रुप बनाया- अंक नाम से। और उम्दा बामामी ड्रामे शुरू किए। लेकिन ज़िन्दा रहने के लिए थिएटर में भी उसी जद्दोज़हद का सामना करना पड़ा। क्या किया जाए? लोगों को समझ की बात सुनाने के लिए भी गुदगुदी करनी पड़ती है। लेकिन बक़ौल 'मुंशी प्रेमचन्द' के, बात वहीं जाकर ठहरी- 'जब डूबना ही लिखा है तो गढ़ी क्या और गंगा क्या?'

बहुत गोते खाए दिनेश ने। मगर डुबकियाँ खाते-खाते अब तैराक हो गया है। तीस साल हो गए। तैर रहा है। सतह पर है, और सर ऊपर है!

गुलज़ार : प्रसिद्ध फिल्मकार, निर्देशक, गीतकार, पटकथा और संवाद लेखक। कहानीकार भी हैं। कई भाषाओं में कृतियों के अनुवाद हुए हैं।

-गुलज़ार

अभी इतने नए चैनल आ गए हैं। क्या आपके पास किसी चैनल की तरफ़ से नाटकों की प्रस्तुति का प्रस्ताव आया?

बीच-बीच में बहुत-सारी स्कीम्स आई थीं। उन्होंने कहा कि आप हमें लिखिए, ऐसा-ऐसा करेंगे। फिर डीडी-3 शुरू हुआ तो कुछ शुरू हुआ था। दो-दो, तीन-तीन बार ऐसा हो चुका है, लेकिन आमतौर पर वो सारा पैसा दिल्ली में ही बँट गया, मुम्बई तक नहीं पहुँचा। जो चैनल्स हैं और एडवरटाइजर हैं- वो भी बाज़ारवाद का शिकार हैं। अब नाटक होगा तो दो-दो घण्टे का होगा। उसका कितना पैसा मिलना चाहिए? सीरियल आमतौर पर आधे घण्टे का होता है। तो उसका जो पैसा मिलता है उससे चौगुना पैसा दो घण्टे के नाटक का मिलना चाहिए, लेकिन वो मिल नहीं पाता। इसलिए मार्केटिंग वाले नहीं चाहते। कोई प्रोडक्शन हाउस भी इस तरफ देखना नहीं चाहता। लेकिन मैं जानता हूँ, देर-सबेर होगा, ज़रूर होगा। भई, जो नाटक बहुत पॉपुलर नाटक है वो क्यों न दिखाएँ आप टीवी पर? देश-विदेश में सब जगह दिखाए जाते हैं। यहाँ क्यों नहीं? ये मैं आज दावे के साथ कह सकता हूँ कि ये होगा और जल्दी ही होगा।

दूरदर्शन वालों ने 'हाय मेरा दिल' को सीरियल बना कर 5-6 बार दिखाया। दो हिस्सों में दिखाया। चैनल ने नहीं किया, क्योंकि जब दूरदर्शन काम करता है तो खाली पैसों के लिए काम नहीं करता है। एटलीस्ट नहीं करता था। लेकिन जो बाज़ार है वो तो पैसों के लिए ही जाएगा। दोष नहीं दे रहा हूँ। देर-सबेर उनको भी नज़र आएगा इसमें पैसा। टीवी थिएटर के लिए बहुत फायदेमन्द हो सकता है और थिएटर टीवी के लिए बहुत फ़ायदेमन्द हो सकता है। यानी दोनों ही एक-दूसरे के लिए फ़ायदेमन्द हैं। पर अभी नहीं हो रहा है- 2 साल बाद, 5 साल बाद होगा, होना तो है ही।

नाटकों में पैसा कम होने की वजह से, शुरू में कलाकारों को भी 'अंक' से जोड़ने में परेशानी हुई क्या?

दरअसल नाटकों में पैसा नाम की कोई चीज़ थी ही नहीं। लेकिन अंक में यह था कि जो भी प्रायोजित शो होगा, उसमें सबको पैसा मिलेगा। जो आए, उसे आपस में बाँट दो और आधा ग्रुप के लिए बचा लो। कभी 50-50 रुपए मिलते, कभी 100-100 रुपए। पर जो होता, सबको बराबर-बराबर बाँट दिया जाता।

बाद में जब भी हम लोग नाट्योत्सव करते थे, तब चाहे कनवेयेंस के तौर पर ही सही, लेकिन पैसा देते थे सबको। 79 से लगातार नाट्योत्सव होने शुरू हुए। 79 में तो जो पैसा-वैसा दिया वो अपने पास से दिया। जब टिकट ही 120 रु. का बिका तो क्या पैसा देते? लेकिन वह परम्परा जैसी बन गई कि भई, जब फेस्टिवल होगा तो सबको पैसा दिया जाएगा, चाहे थोड़ा- बहुत ही सही। या फिर सोल्ड आउट शो में कलाकारों को पैसा मिल जाता था।

जो लोग इस ग्रुप से जुड़ने आते हैं, क्या उन्हें ग्रुप की ओर से कभी किसी तरह की प्रोफेशनल ट्रेनिंग देने की ज़रूरत महसूस हुई है?

उन दिनों सब लोग सब काम करते थे। ऐसा नहीं था कि अभिनेता है तो बैकस्टेज में काम नहीं करेगा। मैं लाईट और म्यूजिक भी करता था। इसकी वजह यह थी कि कोई दिल्ली से ट्रेण्ड आया था, कोई जयपुर से ट्रेण्ड आया। ब्रजभूषण साहनी एनएसडी ग्रेजुएट थे, जो हमारे लिए एक तरह से 'एसेट' थे। वो स्टेज मैनेजर भी थे। मेकअप भी हमारा वही करते थे। लेकिन जो और लड़के आए, कुछ नए-नए लड़के भी आए, पर उस तरह से वर्कशॉप जैसा मामला नहीं था। जो लोग जुड़ते गए वो आमतौर पर प्रोफेशनल एक्टर्स थे। अनुभवी कलाकार थे। उन दिनों जो लोग आते थे उन्हें अच्छी तरह मालूम होता था कि वो क्या करना चाहते हैं। मसलन, कुछ ऐसे लोग भी आते जो कहते कि हम एक्टिंग नहीं करना चाहते, मैं मेकअप बहुत अच्छा कर सकता हूँ। उसके पास एक अमेरिकन मेकअप बॉक्स भी था। हालाँकि ये सब हमारी टीम में आज भी हैं। टेक्नीशियन्स अलग नहीं होते, वो किसी-न-किसी प्ले में एक्टिंग भी ज़रूर कर रहे होते हैं। तो ऐसा कभी भी नहीं हुआ कि कोई सिर्फ लाईट कर रहा है या म्यूजिक कर रहा है। किसी ने खुद ही आकर कहा है कि मैं सिर्फ़ यही करूँगा तो अलग बात है, 'अदरवाइज वी लाइक टू यूज एवरीबडी इन ऑल दि डिपार्टमेंट्स'। पर यह धीरे-धीरे होने लगा कि जो नए लड़के आते थे वो काम करते थे, साल-छः महीने, कभी-कभी दो साल तक बैकस्टेज करते रहे, फिर छोटे-मोटे रोल मिलना शुरू हो गये और बाद में वो मेजर एक्टर्स बन गए। थिएटर एक ऐसी

चीज़ है जो आप करते-करते ज़्यादा अच्छी तरह सीख सकते हैं, क्लासरूम में नहीं सीख सकते, क्लासरूम थ्योरी बता देगा, शास्त्र बता देगा, यहाँ तो बाकायदा परफॉर्म कर रहे हैं। रेग्यूलरली, जब हम पृथ्वी में परफॉर्म करते थे तो पृथ्वी के रिकॉर्ड्स आपको बताएँगे कि दो-दो, तीन-तीन वीक्स तक हम लोग ही परफॉर्म करते थे, परफॉर्मर बहुत कम थे उस ज़माने में, ग्रुप बहुत कम थे। ऐसा नहीं है कि सभी लोगों को डेट्स इस तरह ऑफर होती थी, कोई प्ले अच्छा हो रहा है, तो हमीं से कहा जाता है कि 'वुड यू लाइक टू कन्टिन्यू नेक्स्ट वीक।' हम लोग अपनी शूटिंग की डेट्स मैनेज करते। तो परफॉर्म करते हुए एक्टर की ट्रेनिंग होती है, मैं आज भी मानता हूँ कि देखकर एक्टर ज़्यादा सीखता है। ऐसा भी होता था कि साढ़े छह बजे रिहर्सल है, लेकिन लड़के रिहर्सल की जगह पर साढ़े पाँच बजे ही पहुँच जाते थे और मेरी तरह मिमिक्री करते थे कि 'नहीं' सर ने ऐसे बताया है। तो इस तरह आपका ऑब्सरवेशन बढ़ जाता है। एक बहुत छोटी-सी और अच्छी बात मैं आपको बताता हूँ- एक ऐसा ही लड़का था हमारे यहाँ जैसा मैंने बताया-ऑब्जर्व करके सीखने वाला, लड़का तमिलभाषी था और हकलाता था। और अपनी मेहनत से उसकी हकलाहट खत्म हो गई और वो हिन्दी एकदम साफ़ बोलने लगा, आज तो उर्दू भी साफ़ बोलता है। आप बता नहीं सकते कि ये तमिलभाषी है या हकलाता था। तो हमारी हमेशा ये कोशिश रही है चाहे 'बीवियों का मदरसा' हो या 'तुग़लक़' हो या 'तुम क्या जानो प्रीत', होना ऐसा चाहिए कि पता न चले पूरी कास्ट में कौन क्या है- हमारे यहाँ काम करने सिन्धी, गुजराती, मराठी सब आते हैं, लेकिन नाटक में नाटक की जो भाषा है, वही बोली जाती है।

हम लोग हमेशा रिहर्सल करते थे। एक दिन हम सब बैठे हुए चुप हो गए। थोड़ी देर बाद पलट कर देखा तो एक लड़का दरवाजे के बाहर खड़ा हुआ है। उससे पूछा- 'अरे भई, तुम क्या कर रहे हो? देर से क्यों आए?' तो बोला- 'सर वो बस मिस हो गई तो...'

मैंने कहा- 'अरे वहाँ क्यों रुक गए...'

बोला- 'आप लोग रिहर्सल कर रहे हैं इसलिए यहाँ रुका रहा...'

हमने कहा- 'भई, हम इतनी देर से तो चुप बैठे हैं...'

तो बोला... 'सर, मैंने सोचा कि आप लोग पॉज की रिहर्सल कर रहे हैं।'

मतलब, ये छोटी-छोटी चीजें हैं... ऐसे ही हमारे यहाँ बच्चे तैयार हुए और बने। बहुत बाद में आकर मैं कुछ वर्कशॉप्स करने लगा, चार-पाँच साल से। उससे पहले साल में एकाध बार ही वर्कशॉप किया करते थे, सोचा कि, स्पीच पर एक वर्कशॉप कर लेते हैं। कभी बॉडी मूवमेंट पर एक हफ्ते कर लिया। 84 में बंसी कौल को हमने वर्कशॉप और प्रोडक्शन करने बुलाया था। तब से ग्रुप के लोग कहने लगे कि सर! इस बार कौन आ रहा है? फिर हमारे दोस्त लोग हमेशा तो एवेलेबल नहीं होते, फिर समय भी होना चाहिए। तीन महीने तक बहुत मेजर आउटडोर या प्रोडक्शन नहीं हो रहा है तो आप वर्कशॉप कर सकते हैं। बंसी कौल के बाद, शाह साहब आए थे, कारन्त साहब आए थे एक बार, वो वर्कशॉप तो कर सके थे लेकिन प्रोडक्शन नहीं कर पाए। अभी दो-ढाई साल पहले देवेन्द्रराज अंकुर आए थे। मतलब, बराबर कोशिश रहती है कि लोग बाहर से भी आएँ, बताएँ और इंटरेस्ट लें।

मैं इसीलिए कहता हूँ कि मेरी भी कोई फॉरमल ट्रेनिंग नहीं हुई है। मेरी ट्रेनिंग भी 'यात्रिक' और एक ग्रुप था 'रंगमंच' - दिल्ली में, उसमें काम करते हुए हुई। एक वीरेन्द्र शर्मा ने भी बहुत सिखाया है मुझे, और सबसे अधिक मैंने 'दिशान्तर' में रहकर सीखा। बैकस्टेज में कॉस्ट्यूम सीना, सेट पर लकड़ी काटकर लगाना, पोस्टर छपवाना, उन्हें दीवारों पर लगवाना भी है। फर्नीचर सेट के लिए आएगा, उसे देखना, डायरेक्टर की पसन्द के मुताबिक उसका चुनाव करना, यह सारी ट्रेनिंग मेरी वहाँ हुई है और यह बहुत काम आई है।

बैकस्टेज बैकबोन है थिएटर का

अभिनेता का काम सिर्फ 20 प्रतिशत ही होता है। 80 प्रतिशत काम पीछे है। स्टेज मैनेजर या पीछे काम करने वाले लोग बहुत ज़रूरी हैं और बहुत ज़रूरी है उनका स्क्रिप्ट में पूरी तरह रम जाना। पिछले दिनों से मैंने शुरू कर दिया है नया नाटक। कोई भी आता है तो एक ग्रुप है। उनको कहता हूँ कि भई, आप कॉस्ट्यूम की लिस्ट बनाइए... बैकस्टेज का काम सिखाता हूँ। मतलब, गलत-सही जो भी करते-बनाते हैं, फिर उसे मैं ठीक करता हूँ। मतलब, इस तरह से लोग ट्रेण्ड होते हैं। इसमें जो एक्टर्स हैं उन्हें भी कोई मनाही नहीं होती है आने की, पर मैंने आमतौर पर देखा है कि नए-नए कलाकारों को ही उत्साह होता है जानने का। लेकिन जिसने चार-छह नाटक कर लिए... दो-तीन साल से ग्रुप में काम कर रहा है, उसे फिर एक्टर रहना है, बाय एण्ड लार्ज थिएटर करने का मतलब एक्टिंग ही समझा जाता है इस देश में।

यूँ देखा जाए तो एक्टर की ट्रेनिंग कभी पूरी नहीं होती, यह मैंने अपने अनुभव से जाना है। मतलब, सुबह जल्दी उठकर घूमने जाना, दौड़ना, शारीरिक एक्सरसाइज करना, जो शरीर को स्टिफ न होने दे। मैं बहुत बार एक्टर्स को मना करता हूँ कि बहुत हैवीवेट् ट्रेनिंग ना करें, इससे बॉडी स्टिफ हो जाती है। योगाभ्यास बहुत अच्छी चीज है किसी भी एक्टर के लिए, किसी भी आयु के लिए, वो करें, पढ़ें, देखें। फिर हम लोगों का नाटक देखने का अन्दाज़ भी और लोगों से अलग होना चाहिए, मतलब उसका मज़ा ज़रूर लें, यह भी देखें कि अच्छा, ये यूँ किया गया है! बैकस्टेज कितनी खूबसूरती से किया गया है, अगर वो स्ट्रांग है तो आप देखेंगे कि वह एक्टिंग पर भी झलकता है। लाइटिंग की बारीकियाँ, म्यूजिक प्ले करते हैं वो टेप से या सीडी से करते हैं या लाइव है, उसका टाइमिंग कितना बढ़िया है, सही समय पर म्यूजिक आएगा तो उसका बहुत आनन्द आता है और वो एक समय तक ही बजेगा, उसके बाद नहीं बजेगा। फिर कॉस्ट्यूम के कलर्स, सेट का बैकग्राउण्ड, उनके कलर्स, परस्पर जो रंग इस्तेमाल होते हैं वो सब भी, सेट की प्रॉप्स होती है... उस सबसे एक कैरेक्टर बनता है उस सेट पर रहने वाले का, उस सेट को इस्तेमाल करने वाले का। बहुत बड़ा विषय है यह।

मैं यह कह सकता हूँ कि जब भी मंच पर एक रोशनी आती है, तो आपके मन में एक जादू जागना चाहिए। और सेट पर नाटक में रखी हर चीज़, चाहे वो टेबल लैम्प हो या कुर्सी, झाड़ू, हर चीज़ जीवित लगनी चाहिए। इसीलिए बहुत बार नाटक के मुताबिक बहुत-सी बेवजह चीज़ों की भी ज़रूरत होती है मंच पर।

एक्टिंग को इस देश में सबसे ज़्यादा नॉन-सीरियसली लिया जाता है। जो किसी काम में ठीक नहीं है, दुकान में बैठाया वो भी नहीं कर पाया, तो भई उसे इस लाइन में भेज दो। मिसाल के तौर पर हमारे सामने बहुत-सारे स्टारों के बेटे-भाई थे, जो 8वीं-9वीं फेल करके फिल्मों में चले आए और बड़े-बड़े स्टार बन गए। और वो बड़े गर्व से कहा भी करते थे कि हाँ जी, पढ़ाई में हमारा मन नहीं लगा इसलिए यहाँ चले आए या पापा ने कहा कि तू छोड़ पढ़ाई-वढ़ाई, फिर मैं असिस्टेंट बन गया और फिर उन्होंने ही मुझे हीरो बना दिया। इस सब से, सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि हमारी पूरी की पूरी जनरेशन बर्बाद हो गई। उन्होंने जाना कि अभिनेता बनने के लिए उसकी ट्रेनिंग की ज़रूरत तो है ही नहीं, पढ़ने की भी ज़रूरत नहीं है।

दीवार पर हमें ये चार तस्वीरें टाँगनी हैं।हम ग्रुप के दस लोगों से कहेंगे, वो सब अलग-अलग तरह से टाँगेंगे। उससे पता चलेगा कि ये लोग घर में तस्वीरें टाँगते हैं क्या, सुरुचिपूर्ण ढंग से टाँगते हैं या बस टाँग देते हैं? उनका बैलेंस, उनका सन्तुलन, उनके रंगों का सन्तुलन, उनके शेप्स, हॉरिज़ॉन्टल, वर्टिकल-सारा पता चल जाएगा। और इससे उसकी अपब्रिंगिंग का अन्दाज़ा हो जाएगा। या फिर उसकी अपब्रिंगिंग जैसी भी है, परिवार तो बहुत बढ़िया है, लेकिन वो लड़का इतना केयरलैस है कि उसने कभी जानने की कोशिश भी नहीं की। वो कहता है कि सर, ये तो इंटीरियर वाला करता था। पर क्या आप देखते नहीं थे? मतलब, उसे लगा कि मुझे करना नहीं है, मुझे तो एक्टर बनना है, देख कर क्या करेंगे। मतलब, ये सब चीज़ें आपकी एक्टिंग पर भी असर डालती हैं।

जो लोग मुम्बई में टेलीविजन या फिल्में करने आते हैं, क्या उन्हें नाटकों के ज़रिए बढ़िया ट्रेनिंग मिल जाती है?

पिछले तीस बरसों में मैंने यही जाना है कि देश-भर का हिन्दीभाषी लखनऊ-कानपुर, जो हमारा रंगक्षेत्र है, उसमें यह है कि किसी ने अगर ज़रा-सा नाटक किया, दो-चार उसके इन्टरव्यू छप गए तो वो सीधा मुम्बई का टिकट कटाता है। वो ही नहीं कटाता, बल्कि उसके साथ के लोग कहते हैं कि यार, तू तो अब मुम्बई जा, तेरे लिए वहाँ अब कुछ रखा नहीं है। उस ज़माने में सिर्फ़ सिनेमा था, टेलीविजन भी नहीं था और जो टीवी था वो कैरियर तो बिलकुल नहीं था। तो सिनेमा में आने की होड़ लगी। फिर सभी फिल्मों में आने लगे। फिर उस समय उस तरह की खपत भी थी। लेकिन कितनी थी, वह आप उनसे पूछिए। बहरहाल, एक्टिंग को इस देश में सबसे ज़्यादा नॉन-सीरियसली लिया जाता है। जो किसी काम में ठीक नहीं है, दुकान में बैठाया वो भी नहीं कर पाया, तो भई उसे इस लाइन में भेज दो। मिसाल के तौर पर हमारे सामने बहुत-सारे स्टारों के बेटे-भाई थे, जो 8वीं-9वीं फेल करके फिल्मों में चले आए और बड़े-बड़े स्टार बन गए। और वो बड़े गर्व से कहा भी करते थे कि हाँ जी, पढ़ाई में हमारा मन नहीं लगा इसलिए यहाँ चले आए या पापा ने कहा कि तू छोड़ पढ़ाई-वढ़ाई, फिर मैं असिस्टेंट बन गया और फिर उन्होंने ही मुझे हीरो बना दिया। इस सब से, सबसे बड़ा नुकसान यह हुआ कि हमारी पूरी की पूरी जनरेशन बर्बाद हो गई। उन्होंने जाना कि अभिनेता बनने के लिए उसकी ट्रेनिंग की ज़रूरत तो है ही नहीं, पढ़ने की भी ज़रूरत नहीं है।

तो हमारे यहाँ अनपढ़ एक्टर-एक्ट्रेसेज की भरमार है, फिर ऐसे में टीवी आया, वो एक कैज़्यूल एक्टर जैसा काम होता है वैसा रहा। डीडी था- अलग-अलग स्टेशन्स थे, तो नाटक-वाटक भी हुआ रखते थे। लेकिन जब से केबल नेटवर्क का बूम आया तो एक बहुत बड़ी इण्डस्ट्री खड़ी हो गई तो और भी ज़्यादा लोग आने लगे दूसरे शहरों से, कस्बों से। अब तो विदेशों से लोग आ रहे हैं हमारे यहाँ। कितने-सारे लोगों के बेटे-बेटी आते हैं। पैसा लगाते हैं, चल गया तो ठीक है, नहीं है तो नहीं है। यहाँ तक कि फिल्मों में जो एक्टर्स सिर्फ अंग्रेजी बोल सकते हैं उनके लिए भी काम है हमारे यहाँ की फिल्मों में। जो एक्टर नहीं हैं, मैं तो आजकल यह कहा करता हूँ कि आपको एक्टर होने की ज़रूरत ही नहीं है। आपको सिर्फ अच्छा लगना चाहिए, मॉडल लगना चाहिए, क्योंकि टीवी सीरियल आपसे एक्टिंग की डिमाण्ड ही नहीं करते हैं, आपको सिर्फ सुन्दर लगना है, सुन्दर सेट्स पर रहना है, सुन्दर गाड़ियों में घूमना है, सुन्दर लड़कों के साथ मित्रता करनी है- वही तो सब है, कहाँ एक्टिंग की ज़रूरत है। मैं कहता हूँ कि टीवी पर अभिनय के अज्ञान का महोत्सव मनाया जा रहा है। इसके लिए किसी ट्रेनिंग की ज़रूरत नहीं है। आप भाषा नहीं बोल सकते तो कोई बात नहीं कि हम 'डबिंग' करा लेंगे। आप गुजराती हो तो हम ऐसा सीरियल बनाएँगे कि आप गुजराती वाली हिन्दी बोलेंगे या मराठी वाली हिन्दी बोलेंगे या पंजाबी वाली हिन्दी बोलेंगे। लेकिन हम यह मानते हैं कि एक्टर का पढ़ा-लिखा होना बहुत ज़रूरी है। पढ़ना एक व्यसन, एक आदत होनी चाहिए कि बराबर आपकी जानने की इच्छा रहे, लगे कि अरे, ये तो पढ़ा ही नहीं, अरे वो तो जान लें! मुझसे पूछिए तो मुझे अभी भी लगता है कि अरे, कितना-सारा पढ़ने को पड़ा है, बाप रे बाप...कब समय मिलेगा... कब पढ़ूँ! अरे आएगा समय तो पढ़ेंगे। तो यह हाल है हमारा ट्रेनिंग के मामले में।

नाटकों के लिए एक पूरा दर्शक वर्ग तैयार करना, आप लोगों के लिए क्या एक तरह की चुनौती रही? ख़ासकर, जबकि नाटक देखना फिल्मों से अपेक्षाकृत ज़्यादा महँगा था?

देखिए, नाटक देखना भारत ही नहीं, दुनिया-जहान में आप कहीं चले जाइए, वहाँ महँगा ही है। जैसे हाथ से बनी हुई चीज़-हैण्डीक्राफ्ट की चीज़, मशीन की बनी चीज़ से ज़्यादा महँगी होती है। लेकिन उसकी अपनी गुणवत्ता है। कोई भी मूर्तिकार हाथ से बनाएगा तो दो एक जैसी मूर्ति कभी नहीं बना सकता, जैसे ज़िन्दा कलाकार दो शो कर रहा है तो दोनों में कहीं-न-कहीं फर्क होगा। वह लाइव चीज़ कर रहा है तो लाइव

आर्टिस्ट, पेण्टर, कारीगर महँगा होगा ही। अगर दो चीज़ें एक जैसी बनानी हैं तो बहुत मेहनत से, कष्ट से बनाएगा। उस समय हिन्दी नाटक बहुत कम था, दर्शक तो और भी कम थे। हम लोगों ने 5-5, 7-7 टिकट बेचे, जिस रोज हमारे ग्यारह टिकट बिक गए उस रोज़ हमने जश्न मनाया कि ग्यारह जो हैं एक दिन सौ हो जाएँगे। वो सौ नहीं हुए, वो एक सौ बाइस टिकट बिके, उस दिन तो हम लोग रात-भर पार्टी करते रहे। जैसा कि मैंने बताया, मुम्बई में नाटकों को जगह दिलाने में 'पृथ्वी थिएटर' का बहुत बड़ा योगदान रहा है। यह था कि जेनेफर एक ऐसी कमाल की महिला थी कि वो हर शो पर हाज़िर रहती थी। अगर नाटक उन्होंने तीन बार देख लिया है तो चौथी बार थिएटर के अन्दर झाँक के चुपचाप बाहर नहीं रहतीं। लेकिन हमेशा कहती- 'दिनेश, तुम हिम्मत मत हारना। एक दिन लोग आएँगे, जाएँगे कहाँ? आना ही पड़ेगा उनको।' लोगों को पता ही नहीं था कि पृथ्वी कहाँ है। तो हम लोग घर-घर जाकर टिकट बेचते थे। लड़कों को कह दिया- 'भई, जाओ, पाँच-पाँच टिकट बेचो।' तो लोग लड़कों को डाँट कर भगा देते थे। बेचारे वो लड़के अपनी जेब से पैसे देकर कहते कि साहब! तीन टिकट बेच दिए। सड़क के चौराहों पर खड़े होकर टिकट बेचे हैं हमने उस ज़माने में। मैं खुद बेचता था, तो लोग देखते कि दिनेश ठाकुर टिकट बेच रहे हैं। भई क्या है? तो हम बताते कि ऐसे-ऐसे 'पृथ्वी थिएटर' खुला है, आप हिन्दी नाटक देखने आइए। पता नहीं कैसे वो रहम करके टिकट खरीद लेते थे कि पाँच टिकट दे दो और पच्चीस रु. दे देते थे, लेकिन दुख की बात यह होती थी कि देखने नहीं आते थे।

फिर हमने बहुत ही सुनियोजित ढंग से काम करना शुरू किया। उस ज़माने में विज्ञापन आते थे, टाइम्स ऑफ इण्डिया में, वो प्रति शब्द के हिसाब से होते थे। शायद प्रति शब्द दस पैसे या पचास पैसे होता था, तो सबसे बड़ा विज्ञापन उसमें अंक का हुआ करता था। उसमें बसों का रूट भी बताते थे कि ट्रेन से कैसे यहाँ तक पहुँचें, इसलिए विज्ञापन बड़ा हो जाता था। लेकिन एक ज़िद हो गई थी कि हर रोज़ अखबार में अंक-पृथ्वी, पृथ्वी-अंक थिएटर आना ही चाहिए। उस ज़माने में काम भी अच्छा चल रहा था। पैसे की दिक्कत नहीं थी।

वसी खान साहब ने निर्देशन किया, 'एंटीगनी' किया। लोग बहुत कम आ रहे थे। साल-भर हो गया करते हुए। हिन्दी थिएटर की इमेज कुछ ऐसी है या बन गई है कि वो कुछ भी है, पर मनोरंजन नहीं है। मनोरंजन को मैं आम भाषा में, अर्थों में कह रहा हूँ। मतलब मज़ा आना मज़ा नहीं है। प्योर कॉमेडी-विशुद्ध हास्य जैसी ही किसी चीज़ की हिन्दी में कभी भी कोई बहुत इज़्ज़त नहीं रही है। तो हिन्दी वालों को चाहिए कि कुछ ऊपर का मामला होना चाहिए। कुछ बुद्धिवादी मामला, अस्तित्ववाद का सवाल उठाता, समाज की कुरीतियों का उद्घाटन करता। मतलब मैं यह नहीं कह रहा कि ये सारी बातें ग़लत हैं, लेकिन शुरुआत में मुम्बई में यह हो रहा था। पहले इप्टा की या दुबेजी की वजह से

मंचन उनकी प्राथमिकता थी

उनके बुलावे पर 2006 में ही मुम्बई गया। दिनेशजी खुद बान्द्रा टर्मिनस स्टेशन पर लेने आये हुए थे। सुरुचि से सज्जित अंधेरी स्थित उनके निवास का तीन दिवसीय प्रवास अविस्मरणीय है। अपने नाटकों की तरह ही मेहमाननवाज़ी के प्रत्येक क्षण को मानो पहले से डिजाइन कर रखा हो उन्होंने। बावजूद इसके खुद उनकी दिनचर्या बदस्तूर रही। तड़के पांच बजे उठ जाना, चिट्ठी-पत्री, लिखने-पढ़ने से निवृत्त होना, तय समय पर नाश्ता। साढ़े आठ के लगभग पत्नी प्रीता माथुर ठाकुर का मेरिन लाइन स्थित अपने ऑफिस हेतु निकलना- प्रीताजी किसी कॉर्पोरेट ऑफिस की प्रबन्धकीय सेवा में हैं। उसके बाद बाज़ार का छोटा-मोटा काम, मुझ जैसे आये के साथ काम के सिलसिले में बैठक। इस बीच पूरी तरह सजी टेबल पर दोपहर का खाना-खाने के दौरान ही बताया कि आप नहीं होते तो भी खाना मैं इसी तरह सजी टेबल पर ही लेता हूँ। दोपहर बाद घर पर ही 'अंक' के कलाकार आने शुरू हो जाते हैं। अंक उनकी नाट्य संस्था का नाम है जो पिछले पैंतीस वर्षों से भी ज़्यादा समय से मुम्बई में निरन्तर सक्रिय है और देश के अन्य हिस्सों में भी यदा-कदा दस्तक देती रही है। मेरे प्रवास के उन दिनों में एक नाटक का पाठ चल रहा था। कलाकारों में कुछ पुराने और कुछ नये; ठाकुर संवादों की खूबियों, उच्चारण और लय की ख़ामियों को बारीकी से पकड़ते और बताते, ज़रूरत होने पर प्रशिक्षित भी करते। प्रीताजी का देर शाम लौटना फिर रात का खाना उनके अपने उसी अन्दाज में ही। पूरे दिन देखा कि अपने मेहमान की हर ज़रूरत को भांपते और मेहमान के बिना कहे ही उसे पूरा करते।

प्रीताजी भी दिनेश ठाकुर के नाटकों की महत्वपूर्ण भूमिकाओं में होती हैं, बातचीत में उन्होंने बताया कि वे संवादों को याद करने का काम ऑफिस आते-जाते लोकल ट्रेनों में लगने वाले घंटे-सवा घंटे में ही कर लेती हैं। मंचीय रिहर्सल और शो के दिनों में प्रीताजी अपने ऑफिस से सीधे ही पृथ्वी थिएटर पहुंचती हैं।

दिनेशजी के अस्वस्थ होने के बाद दो साल पहले उनसे मिलने एक दिन के लिए उनके घर पहुंचा। हिन्दी के कवि और कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल भी वहीं थे। न घर की सुरुचि में कमी थी न मेहमाननवाज़ी में और न खाने की टेबल पर। वही ऊर्जा, वही उत्साह और ढेर सारी योजनाएं थीं। वह लम्बे समय से मंचन पर केन्द्रित अपनी पुस्तक पर काम कर रहे थे और तब उसे अन्तिम रूप देने में लगे थे। उनका मानना था कि नाटकों के सैद्धांतिक पक्ष पर तो हिन्दी में बहुत पुस्तकें हैं लेकिन व्यावहारिक पक्ष पर कोई पुस्तक देखने में नहीं आयी है।

इन दो वर्षों के बीच में जब भी फोन पर बात होती, जल्दी ही पाण्डुलिपि भिजवाने की बात कहते। अस्वस्थता के बावजूद नाटक का मंचन उनकी पहली प्राथमिकता थी, शायद इसीलिए पाण्डुलिपि नहीं भिजवा पाये। अभी एक माह पहले ही उन्होंने निमन्त्रण भेजा था, गुरुदेव रवीन्द्र पर अपनी प्रस्तुति 'रवीन्द्राञ्जलि' का। बस इतना ही...।

-दीपचन्द सांखला

दर्शक की आँख में आँसू थे

दर्शकों का स्वागत गुलाब के फूलों से करना। दर्शकों से मिलना नाटक के बाद! सब किया हमने। हमने एक लाइफ मेम्बरशिप बनाई थी। पाँच सौ रु. में हम आपको दो टिकट फ्री देंगे। हमने यह मेम्बरशिप बनाई थी कि दो सौ मेम्बर बन जाएँगे तो मेम्बरशिप बन्द कर देंगे। दो सौ मेम्बर बने ही नहीं। पाँच सौ रुपए लोगों को लगा, बड़ी चीज़ है। और हिन्दी थिएटर से बहुत लोगों को गुरेज़ था, आज भी है। समय गुज़रा, हम दर्शकों को बुला लेते थे, कभी सुबह-शाम चाय पीने की दावत दे देते। हमारे ग्रुप और दर्शकों की बातचीत होती कि कैसे नाटक किए जाएँ, कैसे नाटक आप चाहते हैं, क्या कमी लगती है?

अब थिएटर में ऑडियंस आ गई थी। 1982 में जब 'कमला' हुआ तब तक हमारी ऑडियंस बन गई थी। 'कमला' में हाउसफुल ऑडियंस एडवांस में बैठी हुई थी। करीब ढाई सौ लोग थिएटर में बैठे हुए थे। और नाटक का पहला शो हो रहा था। हम सब लोग काँप रहे थे कि हम लोग बदनाम हैं, कॉमेडी करने के लिए, अगर ऑडियंस ने इसे कॉमेडी समझ लिया तो हम तो मर जाएँगे। पहली कतार में बाईं तरफ एक सिख परिवार बैठा था। नाटक में एक जगह कमला को धक्का देकर निकाला जाता है। और खुद भी चला जाता है। जब मैं निकाल रहा था तो मैंने देखा कि दो सरदार बैठे हुए थे, सामने छह-छह फुट के और उनकी आँखों में आँसू, जब मैं अन्दर आया तो मैंने कहा कि- 'भई, नाटक तो हिट है।' ग्रुप के लोग बोले क्यों... तो मैंने बताया...दिल को बहुत छुआ उस नाटक ने। बाद में तो यह हो गया कि मुम्बई जा रहे हो तो दिनेश ठाकुर का 'कमला' ज़रूर देखना। 'कमला' वॉज डिसकस्ड इन ड्राइंग रूम्स। आपने 'कमला' नहीं देखा तो यू आर नॉट इन, आप सुसंस्कृत नहीं हैं।

इसकी एक ऐसी इमेज बन गई थी। जैसे इप्टा का एक नाटक था 'ख़ालिद की ख़ाला', बहुत भीड़ आती थी उसे देखने। तो गुजराती दर्शकों से भर गया ऑडिटोरियम। हमने बैठकर यह तय किया कि क्यों न हल्की-फुल्की कॉमेडी की जाए! तो खयाल आया कि एक नाटक अठहत्तर में हमने करके छोड़ दिया- 'हाय मेरा दिल', क्यों न उसे रिवाइव करें! तो उसे रिवाइव किया, वो प्लेओपन हुआ अस्सी में बारिशों के बाद, और करीब 20-22 टिकट एडवांस में बिके थे उसके, जो हमारे लिए बहुत ही उत्साहवर्द्धक चीज़ थी और लोग आए भी। तो हमें एक बार ऑडियंस को राज़ी करना था, टिकट खरीद कर नाटक देखें। जब हम पाँच-दस टिकट बेचा करते थे तब भी ऑडियंस तो जुटा ही लेते थे। हर शो में 40 लोग तो होते थे। जब 'हाय मेरा दिल' के 20-22 टिकट एडवांस में बिके, शो शुरू होने तक करीब-करीब 45-48 टिकट बिक गए। और लोगों ने मज़ा लिया उस नाटक का। 1981 में फरवरी के महीने में ये नाटक हाउसफुल हुआ। 'पृथ्वी' में आजकल 200 सीटों की सीमा है। उस ज़माने में सीटों की कोई सीमा नहीं थी। और हमने साढ़े तीन सौ के ऊपर टिकट बेच दिए थे। लोगों को जहाँ जगह मिली, बैठ गए थे। सीढ़ियों पर- और तो और स्टेज के ऊपर दो-दो लाइन में बैठे थे। हाउसफुल का बोर्ड नहीं था। तो गत्ते के टुकड़े पर बाजार से चॉक मँगा कर 'पृथ्वी' थिएटर में पहली बार हाउसफुल लिखा गया-टिकटेड ऑडियंस का। हाउसफुल तो पहले भी हो चुके थे। लेकिन टिकटेड हाउसफुल यह हुआ। इसके बाद 'बीवियों का मदरसा', 'काग़ज़ की दीवार', 'आला अफ़सर', 'गुल-ए-गुलज़ार'। और अंक को हिन्दी के नाट्य समीक्षकों ने गाली देना शुरू कर दिया कि यह तो हास्य नाटक करता है। और यह भी कि जो नाटक हाउसफुल होता है वो अच्छा नाटक नहीं हो सकता, आज भी यह माना जाता है। अच्छा नाटक वही होता है, जिसमें बस 20-25 लोग बैठे हों, उसका आनन्द ले रहे हों- यह धारणा काफ़ी हद तक अभी भी बनी हुई है। तो हम पर यह ठप्पा लगने लगा कि हम सिर्फ़ कॉमेडी नाटक ही कर सकते हैं। और लोग यह भूल गए कि उसके साथ-साथ हम 'सुनो जनमेजय' भी खेल रहे थे, 'बाक़ी इतिहास' और 'एंटीगनी' भी खेल रहे थे।

फिर दर्शकों को गर्मी के दिनों में गोल्डस्पॉट देते थे। तब कैंटीन नहीं था वहाँ, तो जो भी आए टिकट का फटा हुआ आधा हिस्सा दिखाए तो गोल्डस्पॉट फ्री, लिम्का फ्री। सर्दी के दिनों में फ्री कॉफी, जो चाय बनाते थे श्रवणकुमारजी, स्टोव से चाय बनाते थे। उनको हमने 'नेसकैफे' की एक शीशी लाकर दे दी थी। भइया, चाय-दूध डालना और उसमें एक चम्मच यह मिला देना बस। होली-दिवाली पर मिठाई बाँटना! दर्शकों का स्वागत गुलाब के फूलों से करना। दर्शकों से मिलना नाटक के बाद! सब किया हमने। हमने एक लाइफ मेम्बरशिप बनाई थी। पाँच सौ रु. में हम आपको दो टिकट फ्री देंगे। हमने यह मेम्बरशिप बनाई थी कि दो सौ मेम्बर बन जाएँगे तो मेम्बरशिप बन्द कर देंगे। दो सौ मेम्बर बने ही नहीं। पाँच सौ रुपए लोगों को लगा, बड़ी चीज़ है। और हिन्दी थिएटर से बहुत लोगों को गुरेज़ था, आज भी है। समय गुज़रा, हम दर्शकों को बुला लेते थे, कभी सुबह-शाम चाय पीने की दावत दे देते। हमारे ग्रुप और दर्शकों की बातचीत होती कि कैसे नाटक किए जाएँ, कैसे नाटक आप चाहते हैं, क्या कमी लगती है?

अब थिएटर में ऑडियंस आ गई थी। 1982 में जब 'कमला' हुआ तब तक हमारी ऑडियंस बन गई थी। 'कमला' में हाउसफुल ऑडियंस एडवांस में बैठी हुई थी। करीब ढाई सौ लोग थिएटर में बैठे हुए थे। और नाटक का पहला शो हो रहा था। हम सब लोग काँप रहे थे कि हम लोग बदनाम हैं, कॉमेडी करने के लिए, अगर ऑडियंस ने इसे कॉमेडी समझ लिया तो हम तो मर जाएँगे। पहली कतार में बाईं तरफ एक सिख परिवार बैठा था। नाटक में एक जगह कमला को धक्का देकर निकाला जाता है। और खुद भी चला जाता है। जब मैं निकाल रहा था तो मैंने देखा कि दो सरदार बैठे हुए थे, सामने छह-छह फुट के और उनकी आँखों में आँसू, जब मैं अन्दर आया तो मैंने कहा कि- 'भई, नाटक तो हिट है।' ग्रुप के लोग बोले क्यों... तो मैंने बताया...दिल को बहुत छुआ उस नाटक ने। बाद में तो यह हो गया कि मुम्बई जा रहे हो तो दिनेश ठाकुर का 'कमला' ज़रूर देखना। 'कमला' वॉज डिसकस्ड इन ड्राइंग रूम्स। आपने 'कमला' नहीं देखा तो यू आर नॉट इन, आप सुस्कृत नहीं हैं।

नीचे गिरते-उठते समय बीतता गया, अब तो यह है कि एक समय हो गया था कि अंक का कोई भी नाटक हो, 25 शोज़ तक पीछे मुड़कर देखने की ज़रूरत नहीं है। वो काफ़ी हद तक अब भी है। दर्शक को थिएटर तक लाना उतना मुश्किल काम नहीं था जितना उसे टिका कर रखना। मैं आपको ऐसे लोगों से मिला सकता हूँ जिन्होंने 'हाय मेरा दिल' 20-20 बार देखा है। 'जिस लाहौर नहिं देख्या' 105 शो'ज़ हुए हैं अभी तक, लेकिन उसे भी लोगों ने 7-7 बार देखा है, 'कन्यादान', 'हम दोनों'

ऐसे नाटक हैं जिन्हें लोग 5-5, 6-6 बार देखते हैं। आपको एक हाउसफुल ही नहीं करना है, उन ऑडियंस को वापस बुलाना है, फिर से आएँ वो टिकट लेकर, सिर्फ आएँ ही नहीं, अपने दोस्तों को भी लाएँ और फिर टिक कर पूरा नाटक देखें, यह कहीं ज़्यादा कठिन काम था। और इसके लिए हमने कोई कम्प्रोमाइज नहीं किया। इनमें एक उमर निकल गई।

हमारी हमेशा कोशिश रही कि काम हमेशा ऐसा करें कि एक स्तर से ऊपर जाएँ, उससे नीचे तो नहीं जाएँ, जो भी नाटक करें वो एक कदम आगे जाने वाला होना चाहिए। दर्शक को अगर नाउम्मीद करेंगे आप तो इट विल बैकफायर ऑन यू। मैं जानता हूँ अंक का दर्शक बिल्कुल फैशनेबल नहीं है, वो गाढ़ी कमाई है हमारी। और मैं पूरी विनम्रता के साथ कहना चाहता हूँ कि वह काम हमने अकेले तो नहीं किया है। हमारे साथ शफी ईनामदार थे, महेन्द्र जोशी थे, 'इप्टा', 'एकजुट', 'यात्री' इन सभी ने अपनी-अपनी तरह से अथक काम किया है।

'अंक' की कुछ बड़ी उपलब्धियाँ, जिनके लिए आपने बहुत हिम्मत जुटाई?

उपलब्धि तो नहीं कहूँगा, यह कहूँगा कि एक दुस्साहस हमने किया था। 1985 में हमने एक महीने नाट्योत्सव किया, 1 अक्टूबर से 31 अक्टूबर तक, इसमें दस नाटक थे और लगातार सैंतीस प्रदर्शन थे। वैसा पहली और आखिरी बार हुआ था किसी भी ग्रुप में। इसमें समझिए कि 24 तो हाउसफुल थे। कुल कलेक्शन टिकट का 86 फीसदी था। सन् 86 से हमने नया फॉरमेट शुरू किया। जो भी नाटक ओपन होगा वो नौ शो'ज से ओपन होगा। 'ऑन एन ऐवरेज' हम लोग तीन नाटक किया करते थे। दूसरा नाटक बारह शो करेंगे और तीसरे के सोलह शो करेंगे। 86 में जो एनिवर्सरी प्रोडक्शन थी, वो सोलह शो से ओपन हुई। इसके पहले जो प्रोडक्शन हुआ 'रंगबजरंग', वो बारह शो से ओपन हुई। यह पहली बार हो रहा था। मैंने तो देश भर में नहीं सुना कि इस तरह से किसी ने किया हो। 87 में जो एनिवर्सरी प्रोडक्शन हुआ उसका नाम 'जाने ना दूँगी' था, 18 दिन में 25 प्रदर्शन हुए उसके लगातार। तर्क की सारी सीमाएँ तोड़कर जो आगे निकल जाएँ ऐसा...था। डेढ़ लाख से ऊपर खर्च हुआ था इसके प्रोडक्शन में। खाली इसका सेट था 33 हज़ार रुपए का। उस ज़माने में इस तरह का दुस्साहस हम लोग करके बचके निकल गए उसमें से। 25 से 23 शो हाउसफुल थे इसके। पूरी लागत निकल आई। इसी क्रम में 1988 में हम लोगों ने अपने पहले दशक का समारोह मनाया था। दस साल इसलिए कहा क्योंकि 'पृथ्वी' में 78 से परफॉर्म करना शुरू किया इसलिए उसे दस साल कह दिया। फिर 'तुग़लक़' हुआ। 'तुग़लक़' के उसी अट्ठारह दिन में 30 प्रदर्शन प्लान किए गए। 'तुग़लक़', मैं समझता हूँ तब तक हिन्दी थिएटर में सबसे महँगा प्रोडक्शन हुआ है। तब करीब-करीब तीन लाख रु. खर्च हुए थे। आज ऐसे करने जाएँ तो 30-35 लाख से कम खर्च नहीं होगा। उसके बाद बहुत फेस्टिवल हुए। नेहरू सेण्टर में सात दिन का नाट्योत्सव किया। सात दिन में सात नाटक, आठ प्रदर्शन-आज तक किसी ने नहीं किया। साढ़े नौ सौ की कैपेसिटी है उसकी, अच्छी-खासी ऑडियंस वहाँ वीकडेज़ में भी आती थी।

'पृथ्वी' में ही एक नाट्योत्सव हुआ था, जो बाईस दिन हुआ, बाईस दिन में हमने पैंतीस प्रदर्शन किए, सात नाटकों के। आइडिया यह था कि ऑडियंस और भी बढ़े। तब फिल्म या टीवी स्टार्स का नाटकों में काम करना शुरू नहीं हुआ था। कभी सुनते थे कि शबाना आज़मी ने इप्टा की 'सफेद कुण्डली' में काम किया या अमजद खान ने अपने भाई के प्रोडक्शन में काम किया। लेकिन वे प्रदर्शन भी 'पृथ्वी' पर ही बहुत सफल हुए, उससे बाहर सफल नहीं हुए। दूसरे बड़े थिएटरों में होने चाहिए थे, पर नहीं हुए।

'अंक' की तीस वर्षों की क्या उपलब्धियाँ हैं?

एक अक्टूबर, 1990 को हमारा नाटक 'महाभोज' मन्नू भण्डारी का, 25 शोज से ओपन हुआ था। आपकी जानकारी के लिए बता दें। इक्यावन एक्टर थे उसमें, बहुत बड़ा प्रोडक्शन था। एक अक्टूबर को दो शो हुए-दोनों शो हाउसफुल। दो अक्टूबर को बापूजी का जन्मदिन था, दो शो हुए-दोनों हाउसफुल, तीन अक्टूबर को 'कर्फ्यू'। क्योंकि दो अक्टूबर को एल.के. आडवाणी साहब की रथयात्रा निकली और फिर मुलायमसिंह जी मुम्बई आए और उन्होंने मुसलमान भाइयों से कहा, कि इस्लाम ख़तरे में है, सड़क पर आ जाओ, और जो अखबारों से पता चला कि लोग तलवारें लेकर सड़क पर आ गए। पुलिस की गोलियाँ भी चलीं और पूरा शहर बन्द हो गया। बस-ऑटो-टैक्सी नहीं और एक भय का साम्राज्य। घृणा को पैदा करके चले गए थे और प्रतिक्रिया यहाँ पर हमारे मुसलमान भाइयों से करवा दी

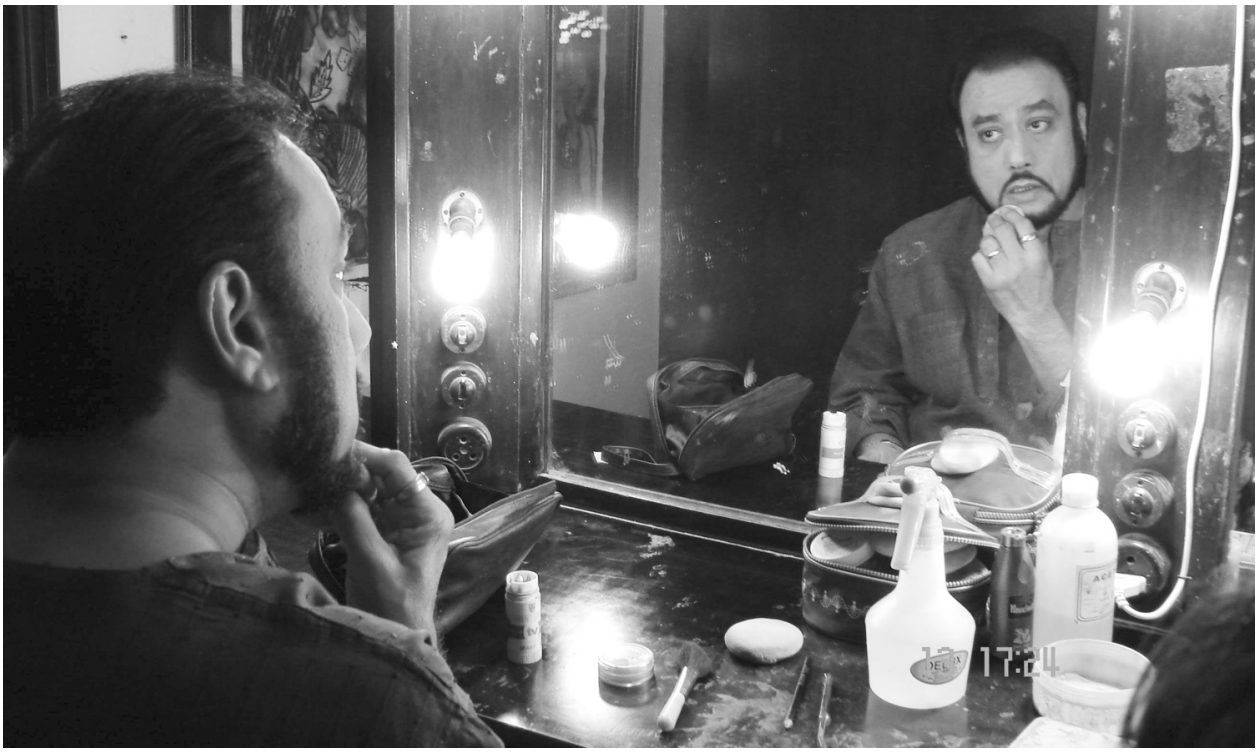

गई थी, वो सब बड़ा ही दुर्भाग्यपूर्ण था। और हमारे पच्चीस शो'ज 'वॉश्डआउट' थे। अट्ठासी हजार रु. का नुकसान हुआ था हमको। 84 में सही या गलत कारणों से अंक की टीम से अट्ठारह लोग चले गए थे। 31 अक्टूबर, 1984 इन्दिराजी की हत्या वाला दिन था। मैं सही या गलत इसलिए कह रहा हूँ कि क्योंकि हो सकता है कि उस समय उनको वो सब सही लगा होगा। ज़ाहिर है, मुझे तो ग़लत लगा ही था। और हमने नौ नाटकों के उन्नीस शो'ज कन्फर्म कर रखे थे मुम्बई और मुम्बई से बाहर। क्या करते, नए एक्टरों की तलाश! उस जमाने में प्रिया तेंडुलकर और विजय तेंडुलकर और श्री टीपी जैन जो हमारे ग्रुप में थे, उन्होंने हमारा बड़ा साथ दिया। नए-नए एक्टर आए और हमारी रिहर्सल फिर से शुरू हो गई। और सोचिए, दो हफ्ते में हमने नौ नाटक रिवाइव किए। दोपहर दो बजे रिहर्सल शुरू करते थे और रात ग्यारह बजे तक काम करते थे। क्योंकि मेन जो एक्टर्स थे, वो मैं और मेरी पत्नी थे। बाकी लोगों को ढूँढ लिया था और तैयार कर लिया था। मैं कहना चाहता हूँ कि कमिटमेंट तो कमिटमेंट है, हर तरह से पूरा करना पड़ेगा। तो क्या उपलब्धियाँ, जिस दिन परफॉर्म करते हैं हम लोग, वही उपलब्धि होती है। शो होता है, किसी भी नाटक का हो, कोशिश रहती है कि वो शो ऐसा हो कि एक हाईलाइट बने।

उन्नीस सौ नब्बे में भारत सरकार की ओर से मॉरिशस सरकार के निमन्त्रण पर हम वहाँ गए थे। मॉरिशस सरकार ने भारत सरकार से कहा था कि हमको 'बीवियों का मदरसा' और 'पगला घोड़ा' दिनेश ठाकुर के दो नाटक चाहिए। यह एक ऐसा सम्मान था जो तब तक तो शायद किसी को मिला नहीं था। वहाँ के प्रधानमन्त्री अनिरुद्ध जगन्नाथ थे। वे दोनों नाटकों में आए और बैठे। बहुत मान-सम्मान मिला। गए थे वहाँ कुल चार प्रदर्शनों के लिए, दो 'बीवियों का मदरसा' और दो 'पगला घोड़ा' करने, लेकिन हमें छह शो 'बीवियों का मदरसा' के करने पड़े। 1990 की 26 जनवरी को वहाँ पहुँचे, भारत का गणतन्त्र दिवस वहाँ मनाया जा रहा था। यह उसका हिस्सा था और हमें बतौर स्टेट गेस्ट बुलाया गया था।

जब हम लोगों ने 20 साल पूरे किए। उसकी बड़ी बात यह थी कि हमने गुजराती, मराठी, हिन्दी के बड़े-बड़े कलाकारों, पत्रकारों-जो थिएटर पर लिखते हैं, सबको सम्मानित किया था। उद्देश्य यह था कि हम सब एक बिरादरी के लोग एक साथ हो जाएँ, हम लोगों के सुख-दुख एक-से हैं। हमारी एक शुभेच्छा थी, बहुत कामयाब हुआ, मज़ा आया। और ये वो वर्ष था, जब हमारे पास कोई स्पॉन्सरशिप नहीं थी।

'अंक' के अब तक के सबसे सफल नाटक कौन-कौन से रहे?

'हाय मेरा दिल' के हिन्दी रंगमंच के इतिहास में सबसे ज़्यादा शो'ज हुए हैं- 1017, 'बीवियों का मदरसा' के हुए हैं 826, 'अंजी' के 751, 'भागमभाग' बन्द कर दिया, बहुत सालों से हम लोग करते नहीं हैं- उसके पाँच महीनों में 100 शो हुए, अब तक उसके छः सौ अड़सठ शो'ज हुए हैं। सौ की संख्या तो बहुत-सारे नाटकों ने पार की। 'हाय मेरा दिल' तो 1978 से अभी तक तक चल रहा है यानी वो नाटक अट्ठाइस साल का होने वाला होगा, जब किया था तब तीस साल का था मैं, 'बीवियों का मदरसा' और 'अंजी' तो अभी भी चल रहे हैं।

समय के साथ-साथ क्या आपने नाटकों में बदलाव किया है? किस तरह के बदलाव रहे हैं?

बिल्कुल किया है, 'हाय मेरा दिल' का अन्त हमेशा से ऐसा नहीं था, न ही 'बीवियों का मदरसा' का अन्त ऐसा था। जो फिल्मों के

नाम आते हैं, समस्याओं के नाम आते हैं, खलनायक आता है, वो सब आज का है। कुछ नए-नए गेम्स उसमें जुड़ते जाते हैं, जो नाटक को ताज़ा बनाए रखते हैं। जैसे 'जिस लाहौर नहिं देख्या' हिंसा के विरुद्ध है कि मारें-काटें-जलाएँ नहीं। अन्त की जो स्लाइड्स हम दिखाते हैं वो स्लाइड्स 84 की दिल्ली की भी हो सकती हैं, 2002 गुजरात की भी हो सकती हैं, मुम्बई के दंगों की भी हो सकती हैं। और वो चोट करता है, बराबर चोट करता है।

अंक ने हमेशा यह बात मानी और मान कर चला कि थिएटर एक ख़ाली हँसी-ठहाके वाली चीज़ नहीं है। और न ही थिएटर किसी त्रासदी-विशेष के प्रति आपको जागरूक करता है। रंगकर्म एक सामाजिक क्रिया है, सब लोग मिल-जुलकर करते हैं। और इसे मिल-जुलकर लोग देखने आते हैं, पूरी एक सोशल एक्टीविटी है। हम अपनी सोशल रिस्पांसिबिलिटी से कैसे भाग सकते हैं? वो एक कंसर्न जो है, वो बराबर बना रहना चाहिए। आपके घर के पिछवाड़े बम फूट रहे हैं और आप बिठाकर बेडरूम फार्स दिखा रहे हैं तो बड़ी गड़बड़ बात है।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना की एक कविता है जो मुझे बहुत डिस्टर्ब कर रही है पहले दिन से।

'यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में आग लगी हो तो क्या तुम दूसरे कमरे में आराम से सो सकते हो?

यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में लाश पड़ी हो तो क्या तुम गाना गा सकते हो?

यदि तुम्हारे घर के एक कमरे में लाशें सड़ रही हों तो क्या तुम दूसरे कमरे में प्रार्थना कर सकते हो?

यदि हाँ, तो मुझे तुमसे कुछ नहीं कहना है।'

एक बात कवि कहता है और आपको अन्दर तक हिला देता है। आप कैसे इंसेंसेटिव हो सकते हैं! मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि यहाँ बम ब्लास्ट और उसमें सैकड़ों लोग मर गए हैं- जख्मी हैं, तो हम आंतकवादियों के ख़िलाफ़ नाटक करना शुरू कर दें। लेकिन ये जो ट्रैजडी है उसे आप कैसे भूल सकते हो? तो हमें अपनी तरफ से कुछ तो करना चाहिए। मैं पिछले तीन-चार साल से क्या करता हूँ कि नाटक के बाद कुछ मिनट बात करता हूँ। यहाँ तक कि मैं कभी-कभी घर की सफ़ाई के बारे में बात करता हूँ कि ध्यान रखिए कहीं आपके घर का कूड़ा उछलकर दूसरे घर में न चला जाए। मैं ये भी कहता हूँ कि आप गाड़ी या रिक्शा में बैठकर बाहर पान न थूक दीजिए, हो सकता है कि पीछे मैं खड़ा हूँ, वह मेरे मुँह पर गिर पड़े। मैं उस दिन महसूस कर रहा होता हूँ वो मेरे मुँह से निकलता है। प्लान तो मैं करता नहीं। और जब से यह 'लहौर नहिं देख्या' शुरू किया है, दो हजार तीन से, तब से ये ज़रूरी हो गया है कि नाटक के अन्त में राष्ट्रीय गान ज़रूर होगा।

पूरा दर्शक वर्ग साथ में खड़े-खड़े गाता है। तो एक माहौल तो बनता है इसमें, और एक विचार आपके साथ जाता है। आपने एक ट्रैजेडी देखी या कॉमेडी देखी, भावात्मक नाटक देखा-अन्ततः आपके साथ क्या रहा?

तमाम उतार-चढ़ाव और दिक्कतों के दौर से गुज़रते हुए अंक को एकजुट किए रखना अपने-आप में एक बड़ी चुनौती रही होगी। किस तरह हर बार आप समस्याओं में उलझकर उनसे बाहर आते गए? कैसे प्रयास रहे, जो आज भी जारी हैं?

पीछे मुड़कर देखें तो बहुत-सारे ऐसे मौके आए होंगे जहाँ नौबत आ गई होगी कि शो कैसे होगा? कारण जो भी रहा हो। कोई अभिनेता या अभिनेत्री यह शो नहीं करना चाहते या चाहती और इस शर्त पर ही करेगा या करेगी। फिर सोचना पड़ता है कि इसकी शर्त मान ली तो बाकी लोग भी कल को इस तरह की बातें उठाएँगे तो कैसे चलेगा मामला? और यह स्थिति पहले कभी होती थी और अब नहीं होती है, ऐसा नहीं है। कभी-कभार यह भी हुआ है कि एक दिन पहले हमें नाटक बदल देना पड़ा। कभी-कभार यह भी हुआ कि तीन-चार घण्टे पहले ही किसी नए एक्टर या एक्ट्रेस को तैयार करके भेज दिया। हालाँकि कोशिश बराबर रहती है कि गुणवत्ता में कोई अन्तर न पड़े। और जहाँ यह लगता है कि बहुत बड़ा फर्क़ पड़ जाएगा, यह बहुत ही कमज़ोर एक्टर या एक्ट्रेस है और इतना बड़ा पार्ट वो न कर सके इत्यादि-इत्यादि तो ऐसे में फिर नाटक बदल देते हैं। फिर पूरा प्रचार यदि बेकार गया तो गया, क्या कर सकते हैं! ऐसे में एक शो या एक नाटक से बड़ी चीज़ होती है कि ग्रुप चलता रहे।

वे समस्याएँ ग्रुप थिएटर की हैं, ये कम्पनी थिएटर की समस्याएँ नहीं होतीं, मतलब जिस तरह से बहुत-से लोग करते हैं कमर्शियल थिएटर में। एक निर्माता होता है, जो पैसे का इन्तज़ाम करता है। जो किसी निर्देशक को बुलाता है कि भई, आप मेरे लिए नाटक करो-नाटक

"यहाँ बम ब्लास्ट और उसमें सैकड़ों लोग मर गए हैं- ज़ख्मी हैं, तो हम आंतकवादियों के ख़िलाफ़ नाटक करना शुरू कर दें। लेकिन ये जो ट्रैजडी है उसे आप कैसे भूल सकते हो? तो हमें अपनी तरफ से कुछ तो करना चाहिए। मैं पिछले तीन-चार साल से क्या करता हूँ कि नाटक के बाद कुछ मिनट बात करता हूँ। यहाँ तक कि मैं कभी-कभी घर की सफ़ाई के बारे में बात करता हूँ कि ध्यान रखिए कहीं आपके घर का कूड़ा उछलकर दूसरे घर में न चला जाए। मैं ये भी कहता हूँ कि आप गाड़ी या रिक्शा में बैठकर बाहर पान न थूक दीजिए, हो सकता है कि पीछे मैं खड़ा हूँ, वह मेरे मुँह पर गिर पड़े। मैं उस दिन जो महसूस कर रहा होता हूँ वो मेरे मुँह से निकलता है।"

बताओ। नाटक तय किया जाता है। फिर उसके बाद कलाकारों के साथ अनुबंध किया जाता है और वो एक ही नाटक चलता है एक समय में। हालाँकि ऐसा नहीं है कि वहाँ कोई बुरी स्थिति न होती हो, कोई कलाकार काम करने से मना न कर दे। यह सब होता है वहाँ भी, लेकिन मैं समझता हूँ कि थोड़ा कम होता है। और अगर ऐसा होता भी है तो मैंने बहुत-सारे नाटकों को बन्द हो जाते देखा है। लेकिन ग्रुप थिएटर की समस्याएँ ज़्यादा बड़ी हैं। यहाँ पहले ग्रुप का सोचा जाता है, निर्माता, निर्देशक या कलाकार बाद में और मैं अपने कम-से-कम तीस-वर्षीय ग्रुप चलाने के अनुभव से जानता हूँ कि ग्रुप थिएटर में अहं और अहं की तुष्टि को एकदम भूल जाना पड़ता है। हालाँकि अंक का मुखिया होने के नाते मैं कह सकता हूँ कि बहुत बार साम, दाम, दण्ड, भेद, सब तरह से करना पड़ता है। कैसे भी हो, शो रुकना नहीं चाहिए। और यह शो ही नहीं, आगे के शो'ज भी होने चाहिए, पूरी कोशिश की जाती है कि किसी को निकालना न पड़े। अब तो ये स्थितियां आने लग गई हैं कि टेलीविजन का कोई काम मिल गया- उसने कमिटमेंट तो किया था हमारे साथ, पर फिर वो ये नहीं कहता कि मैं टेलीविजन की वजह से छोड़कर जा रहा हूँ। वो कुछ ऐसी स्थिति पैदा करता है कि उसे निकाल देना पड़े या पूरे ग्रुप का वातावरण ही ख़राब कर दिया, तो उसको निकाल देना पड़ा। बहुत कम ऐसे रंगकर्मी मेरे सामने आए जो बिल्कुल सच बोल कर, ग्रुप को छोड़कर गए और उनसे हमारे सम्बन्ध आज तक हैं और मधुर सम्बन्ध हैं। ऐसे सम्बन्ध भी हैं कि कभी-कभार ज़रूरत पड़ी, तो उन्होंने वापस आकर हमारे साथ काम किया है और वो लगातार हमारा काम देखते भी रहे हैं।

मैं शायद बहुत पुराना आदमी हूँ। पुरानी बातें कर रहा हूँ। मेरे लिए आपसी सम्बन्ध कहीं बड़ी चीज़ है। मानवीय सम्बन्ध अगर ख़राब होते हैं, तो मुझे यह ग्रुप भी नहीं चाहिए।

लेकिन, अब बाजार का कल्चर रंगकर्म में भी दाखिल हो चुका है। हर जगह आ चुका है बाज़ार का कल्चर, घरों में, आपसी सम्बन्धों में, तो इससे कहाँ बचा जा सकता है? कोशिश रहती है कि इन्सान-इन्सान रहे और बाज़ार-बाज़ार रहे। मतलब बाज़ार हमारे लिए हो, हम बाजार के लिए न हों- कोशिश होती है। कितने कामयाब होते हैं, कह नहीं सकते। पर मैं पा रहा हूँ कि पिछले पाँच-सात सालों में वो जो एक आपसी, परस्पर सम्मान, परस्पर लिहाज़ हुआ करता था रंगकर्मियों में, वो कम होता जा रहा है। यानी अभिनेता का यह कहना कि आज तो सिर्फ पाँच टिकट बिके हैं, उसकी एक्टिंग पर असर पड़ना चाहिए। यह तो एक प्रोफेशनल एक्टर की बात नहीं है। यहाँ कुछ गुजराती नाटकों का मुझे पता चला है कि ऑडियंस के हिसाब से वो नाटक के सीन्स भी काट देते हैं। दो घण्टे का नाटक शायद डेढ़ घण्टे में भी ख़त्म कर देते हैं, ऐसा मैंने सुना है, देखा नहीं है। यानी अभी तो कुल बत्तीस लोग हैं हमारे यहाँ। एक समय था 60-60 लोग हुआ करते थे। और उन साठों को एक 'तुग़लक़' में एक साथ लेकर चलना! ज़ाहिर है कि रंगकर्मी कोई मशीन नहीं होता है, और इन्सान को आप मशीन की तरह ट्रीट भी नहीं कर सकते। या सभी इन्सानों को एक कम्प्यूटर की तरह एक जैसे ट्रीट नहीं किया जा सकता। सब अलग-अलग परिवारों से आते हैं, सभी शिक्षा, संस्कार, माहौल अलग होते हैं और उस सबकी वजह से सबकी कुण्ठाएँ भी अलग होती हैं। उन सबको आप सँभालते हुए उस लक्ष्य तक जाते हैं। उसमें सब तरह की चीज़ें इस्तेमाल होती हैं। किसी को समझा कर समझाना पड़ता है, किसी को प्यार से, फटकार से, किसी को डाँट कर

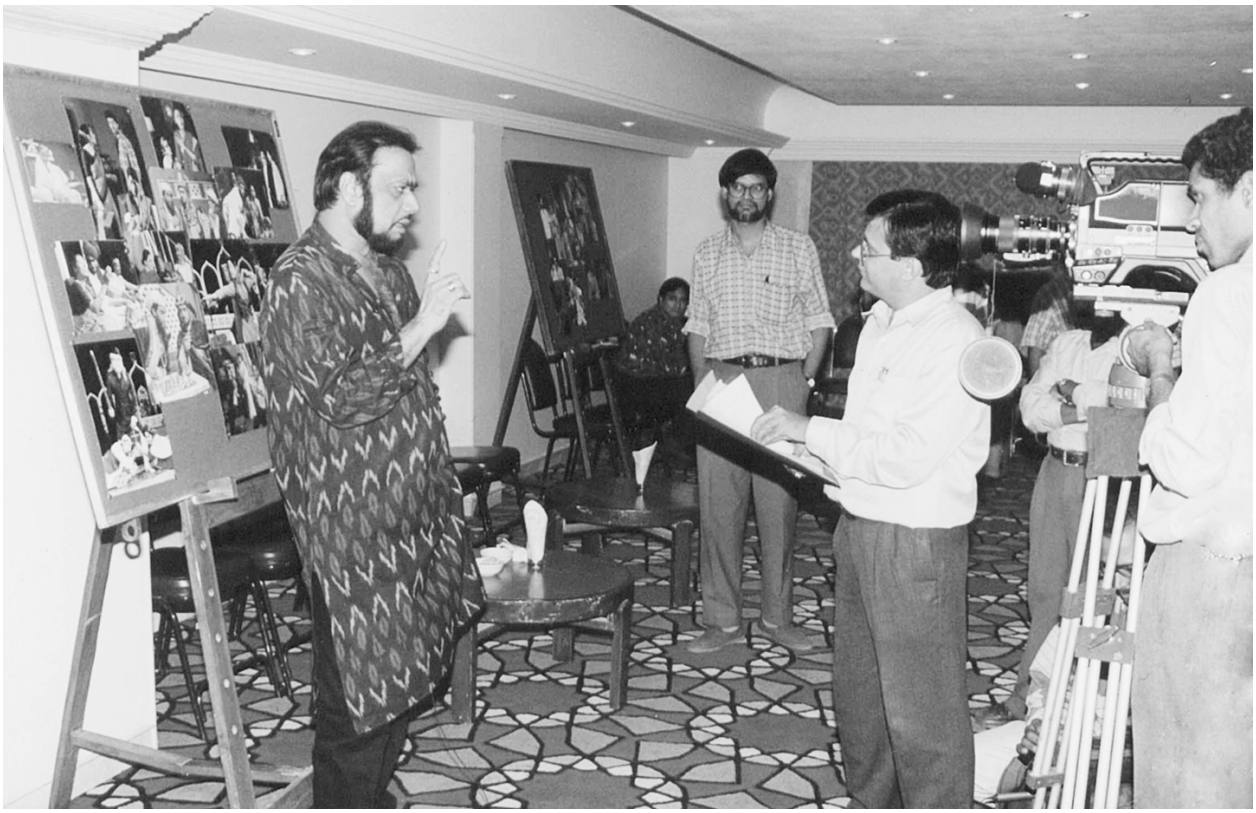

समझाना पड़ता है। किसी को बिल्कुल तोड़ देना पड़ता है, और फिर से बनाना पड़ता है। क्योंकि कुछ ऐरोगेंट पर्सनेलिटीज भी होती हैं। मैंने आमतौर पर देखा है कि जो इकलौते बच्चे होते हैं उन्हें ग्रुप में बड़ी समस्या होती है, स्कूल में, क्लास में भी समस्या रही होगी। क्योंकि वो अपना कुछ भी बाँटना नहीं चाहते हैं। जब हम लोग 60-70 लोगों का ग्रुप लेकर यात्रा पर जाते हैं तो सब एक ही क्लास में ट्रैवल कर रहे होते हैं। चाहे वो कितना ही आर्थिक रूप से सम्पन्न हो या कुछ हो। खाना भी एक साथ ही खाया जाएगा और एक ही टेबल पर बैठकर खाया जाएगा। ग़रीब से ग़रीब के साथ यह होता है। एक ही तरह के कपड़ों में रहेगा। तो वो चीज़ उसमें होनी चाहिए अन्दर से, सुख और दुख को बाँट लेने की। और यह जानना कि हम यहाँ किसलिए आए हैं? नाटक अगर अच्छा हो जाएगा तो हमारा रहना-खाना-सोना सब सफल है अन्यथा असफल! आप रहें फाइव स्टार होटल में, बड़ी-बड़ी गाड़ियों में घूमें और बहुत ही बढ़िया मेकअप रूम आपको मिले और शो आपने खराब किया। और कोई एक व्यक्ति शो खराब नहीं कर सकता, नाटक में दो ही व्यक्ति हों तो बात अलग है। लेकिन नाटक बहुत बड़ा-सा हो और उसमें एक व्यक्ति बहुत खराब काम कर रहा है, नेगेटिव है वो, तो उससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। बाकी लोग इतने पॉजिटिव होने चाहिए कि वो पता ही न चले। पर ऐसे लोग एक ही बार ऐसी यात्रा में जा पाते हैं, उसके बाद छोड़ देते हैं वो।

बहुत पॉलिटिक्स भी होती है। हाँ, कोई बहुत बदतमीज़ी पर उतरा है और उसको झेला जा रहा है तो फिर एक अलग-सा ग्रुप बनने लग जाता है। मेरे यहाँ एक कड़ा अनुशासन है कि जो भी आप कीजिए काम सही होना चाहिए। कलाकार जो है, आम आदमी से थोड़ा अलग होता है। और फिर हमारे इतने बड़े ग्रुप में सबके-सब कलाकार मन के हों, ऐसा ज़रूरी नहीं है। हर कलाकार में अपनी अलग नफ़ासत, नज़ाकत, तुनकमिजाज़ी और मस्ती होती है। सवाल यह है कि वो मस्ती और उसका जो मिजाज़ है वो तभी बढ़िया लगता है जब उसे एप्रीशिएट करने वाले लोग आस-पास हों। कोई उसे एप्रीशिएट न करे तो वो छोड़-छाड़ कर भाग जाएगा। छोटे लड़के-लड़कियों में यह जान जाते हैं कि उनमें कुछ ऐसा है तो उन लोगों की ट्रेनिंग-उनकी तैयारी, थोड़े-से अलग ढंग से होती है।

हमारे समय में ये हुआ करता था कि जैसे अलकाज़ी साहब या ओम शिवपुरीजी या मोहन महर्षिजी किसी एक-न-एक एक्टर को रोज़ पकड़ लेते थे और उसकी खूब रगड़ायी करते थे, तो जब मुझे छह-सात दिन तक कुछ नहीं कहा जाता, तो मुझे लगने लगता कि सब उसे ही सिखा देंगे, मुझे नहीं सिखाएँगे। मुझे ये कह ही नहीं रहे हैं कि मैं क्या गलत कर रहा हूँ? देखो, उसे तो थप्पड़ भी मार दिया। हमें तो डाँटा तक नहीं। ऐसा कुछ हो गया था कि गुरु एक बार डाँट दे या जमा दे, तो वो आपमें बहुत रुचि रखता है। आपको बनाना चाहता है। हमसे कुछ कह ही नहीं रहे तो यानी कि हममें कोई रुचि नहीं है, यानी कोई उम्मीद भी नहीं है हममें। आज वो बात सीखने और एप्रीशिएट करने वाले बच्चे ना के बराबर हैं, वो ज़माने चले गए अब, मैं हालाँकि गुरु-शिष्य परम्परा का बड़ा पक्षधर हूँ। लेकिन हमारे साथ अब तक जितने भी बच्चे जुड़े, कोई छह महीने रहा, कोई दो साल, कोई पाँच साल, मैं ये मानता हूँ कि हमारी जो रंग-यात्रा है उसमें उनका बड़ा योगदान है।

2004 के दिसम्बर से शुरू हुआ था- बिड़ला'ज की फैक्ट्रियों में हमको 20 प्रदर्शन करने जाना था। दो नाटकों के पहले चार प्रदर्शन जो गुजरात के थे वो तो अच्छे-से हो गए। उसके बाद एक महीने का टूर था, हमारी जो ओरिजनल टीम है उसमें से चार या पाँच जो मेन एक्टर थे, वो अपनी समस्याओं की वजह से उसमें साथ नहीं चल पाए। तो क्या किया जाए! हालाँकि प्रदर्शन सबसे पूछकर ही रखे गए थे, लेकिन कोई-न-कोई मजबूरी आ गई होगी कि वो नहीं चल सके। तो एक चुनौती थी- 4-5 नए एक्टर ढूँढे गए और फिर 'जिस लाहौर नहिं देख्या' और 'हाय मेरा दिल' की तैयारी शुरू हुई। और फिर हम लोग एक महीने की यात्रा पर निकले फरवरी में। इसमें जो नए लोग आए थे, उनमें एक या दो लोग समस्या थे शुरू से। वो शुरू से कुछ-न-कुछ समस्या क्रिएट कर रहे थे। ट्रेन चली और वहीं से उनकी समस्या शुरू हो गई। हम लोग जहाँ भी ठहरे, सबसे घटिया कमरे में हम लोग ठहरते थे, मैं और प्रीता, ठण्ड में हमारे कमरे में हीटर नहीं होता था और सबके लिए इन्तजाम करते कि ये लोग ठीक से रहें। सब कुछ के बावजूद ये लोग समस्याएं बढ़ाते गए और एक स्थिति ऐसी आ गई कि पूरे ग्रुप में टेंशन हो गया। और मैं बराबर सोचता था कि कहाँ मुझसे ग़लती हो गई। ग्रुप के लोग इस बात की गवाही देंगे कि मैं ज़रूरत से ज़्यादा शान्त था। इतना शान्त कि उनमें से छह लोगों ने यह तय किया कि हमें छोड़कर चले जाएँगे। लगभग छह शो उन

जब हम लोग 60-70 लोगों का ग्रुप लेकर यात्रा पर जाते हैं तो सब एक ही क्लास में ट्रैवल कर रहे होते हैं। चाहे वो कितना ही आर्थिक रूप से सम्पन्न हो या कुछ हो। खाना भी एक साथ ही खाया जाएगा और एक ही टेबल पर बैठकर खाया जाएगा। ग़रीब से ग़रीब के साथ यह होता है। एक ही तरह के कपड़ों में रहेगा। तो वो चीज़ उसमें होनी चाहिए अन्दर से, सुख और दुख को बाँट लेने की। और यह जानना कि हम यहाँ किसलिए आए हैं? नाटक अगर अच्छा हो जाएगा तो हमारा रहना-खाना-सोना सब सफल है अन्यथा असफल! आप रहें फाइव स्टार होटल में, बड़ी-बड़ी गाड़ियों में घूमें और बहुत ही बढ़िया मेकअप रूम आपको मिले और शो आपने खराब किया। और कोई एक व्यक्ति शो खराब नहीं कर सकता, नाटक में दो ही व्यक्ति हों तो बात अलग है। लेकिन नाटक बहुत बड़ा-सा हो और उसमें एक व्यक्ति बहुत खराब काम कर रहा है, नेगेटिव है वो, तो उससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा। बाकी लोग इतने पॉजिटिव होने चाहिए कि वो पता ही न चले। पर ऐसे लोग एक ही बार ऐसी यात्रा में जा पाते हैं, उसके बाद छोड़ देते हैं वो।

लोगों ने किए बाहर। हम लोग उस समय लखनऊ के पास जगदीशपुर में थे। उन लोगों ने कहा- 'हम जा रहे हैं।' अब जा रहे हैं तो मुझे क्या कहना! आपने तय कर लिया और मुझे बताने के लिए आए हैं। पता नहीं क्यों, वो चले गए और हमारे मन पर से एक बोझा उतर गया। हमारे पास तीन दिन का समय था। हमने टेलीफोन किए और अपनी ओरिजनल टीम के लोगों को हवाईजहाज से बुलाया। वो लोग मेरे पास दस-दस, पन्द्रह-पन्द्रह साल से काम कर रहे हैं, सब आए। प्रदर्शन बराबर ऑन शिड्यूल हुए। उस बात को डेढ़ बरस हो चुका है। हम हैं अंक भी है, हमारे नाटक भी चल रहे हैं पर वो लोग कहाँ हैं? वह बात सही है कि उन्होंने इस ग्रुप का करीब-करीब दो महीना, जिसका वो बहुत फ़ायदा उठा सकते थे, ज़ाया किया। इस तरह की चीज़ें होती रहती हैं। इसमें कौन किसे ब्लेम करेगा? यह भी है कि ग्रुप का मुखिया होते हुए बर्दाश्त की भी एक हद होती है। इस सबमें पैसे का बहुत नुक्सान हुआ हम लोगों का, लेकिन एक कमिटमेण्ट हमने बहुत शान से पूरा किया। ऐसा हादसा किसी भी ग्रुप के जीवन में नहीं आता आमतौर पर। मैं खुद जानता हूँ, तैंतालीस वर्ष से थिएटर कर रहा हूँ। इससे मेरे रंगानुभव में बहुत बड़ी वृद्धि हुई है।

और अब तो यह भी हो गया है कि एक जो इज़्ज़त और लिहाज़ हम लोगों ने सीखा था, कि जब तक गुरु कह न दे हम खड़े रहेंगे, बैठेंगे नहीं, मैं वो नहीं कहता, लेकिन कम-से-कम मन में तो आदर रखो, पर समय यही आया है तो यही सही।

यह मैं समझता हूँ कि यह उन रंगकर्मियों की इनसिक्योरिटी होती है, जब आप सीनियर एक्टर्स की सीनियोरिटी को चैलेंज करते हैं, या उनके अनुभव को चैलेंज करते हैं। यह उनकी पर्सनल इनसिक्योरिटी है, जैसे ग्रुप में कोई सुन्दर दिखने वाला लड़का आ जाए और वो एक्टर भी अच्छा है तो बाकी एक्टर्स को परेशानी हो जाती है। जो बाहर से आया है उसे पूरे ग्रुप में कम्फर्टेबल महसूस कराना मेरा ही काम नहीं है, और सबका भी काम है। क्योंकि यह बात तो निश्चित है कि सौ फीसदी रंगकर्मी टेलीविजन में जाना चाहते हैं, जो आसान है और काम कर भी रहे हैं, मुझे उससे कोई ऐतराज नहीं है, लेकिन यही है कि कमिटमेण्ट जब करते हैं आप हमारे साथ, पहले कहाँ कमिट किया आपने? हमारे यहाँ। तो हमको पहला समझो, जिसे दूसरा किया उसे दूसरा समझो। और फिर मान लीजिए ऐसी कोई समस्या आ गई है कि इधर हमारे हफ्ता-भर शो'ज हैं और उधर शूटिंग आ गई तो एक्टर जो है, अमूमन चुप बैठ जाता है, फोन का जवाब नहीं देता, वो कट ऑफ हो जाता है। इतना डरता है मुझसे, या जो भी है, पर मेरा कहना हमेशा यह है कि ऐसी कोई भी समस्या आई है तो वो तुम्हारे अकेले की समस्या नहीं है, वो समस्या अब ग्रुप की है, तुमको बड़ा काम मिला है, बहुत अच्छी बात है, लेकिन उसमें से कोई रास्ता निकालेंगे, हम तुमको छह दिन इस्तेमाल नहीं करेंगे, हम तुमको तीन दिन के लिए छोड़ देंगे, तीन दिन तुम हमारे लिए छोड़ दो। या चार दिन के लिए छोड़ देंगे, दो दिन तुम हमारे साथ मैनेज कर लो। ऐसा कुछ रास्ता निकाला जाता है।

आज 'अंक' के कलाकारों के साथ आप किस तरह का रिश्ता रखने की कोशिश करते हैं?

पहले एक ज़माना था जब हम भाइयों जैसे ट्रीट करते थे, अब बेटे-बेटियों जैसे ट्रीट करते हैं। कहीं भी किसी भी ग्रुप में काम करें आप,

लेकिन ग्रुप के मुखिया के साथ ऐसा सम्बन्ध होना चाहिए कि उससे सारी समस्या कह सकें। काम करने की ही समस्या नहीं, बल्कि पर्सनल समस्याएँ। हमने अक्सर लोगों को कहते देखा कि अंक एक परिवार है, और वो परिवार दिखता है, जब हम लोगों का कोई शो हो रहा होता है। कोई बच्चा काम कर रहा है तो मैं उसके पास खाना लेकर पहुंच जाता हूँ, कि बेटा खा ले। मुझे लगता है कि यार, ये बच्चा है, इसे खाना खाना चाहिए, चार बजे खाएगा, तो क्या मतलब होता है! और हम अकेले नहीं हैं, सभी करते हैं एक-दूसरे के लिए, कोई लड़का हमारे ग्रुप में अकेला बैठकर खाना नहीं खाएगा। कोई कहीं काम करने गया है तो वो वहाँ से लौटकर खा लेगा, उसके लिए खाना अलग रख दिया जाए, ऐसा नहीं होता है। कोई एक लड़का उसके लिए इन्तज़ार करता है, अपना खाना उसके साथ खाने के लिए उसका इन्तज़ार करता है। छोटी बातें हैं, पर इनसे बहुत फ़र्क पड़ता है। ठण्ड है, ट्रेन में उसने गरम कपड़े नहीं लिए। दूसरा लड़का खूब गर्म कपड़े पहने बैठा है तो यह लड़का जाकर पहले लड़के को अपना कम्बल दे देता है। मतलब थोड़ी देर उसके साथ ओढ़कर बैठेगा फिर निकल आएगा, भई तू सो जा। ये चीज़ें हमने अपने ग्रुप में होती देखी हैं, ये बहुत बड़ी क्वालिटीज हैं। कुछ तो ये लोग अपने परिवारों से लेकर आते होंगे, कुछ यहाँ ग्रुप में रहकर सीखते होंगे। दूसरों के लिए कष्ट उठाने की जो क्वालिटी है यह बहुत बड़ी है और यह रंगकर्म में बहुत ज़रूरी भी है। कभी-कभी पैसे की बात बहुत समस्या पैदा कर देती है, सब लोगों को पैसा मिलता है। लेकिन मान लीजिए कि एक-दो लोग बहुत ज़्यादा ज़रूरतमन्द हैं और हम अलग से उनके लिए कुछ कर देते हैं, तो उसे निजी नहीं माना जाता है। बात कहीं-न-कहीं पता चल जाती है और स्थिति यह आ जाती है कि मुझे ग्रुप में सबके सामने बैठकर जवाब देना पड़ता है और मैं जवाब देता हूँ।

मैंने अपने ग्रुप के बीमार लड़कों को अपने घर में रखा है, पन्द्रह-पन्द्रह दिन तीमारदारी की है उनकी। मुझे पता है, ये लड़के अकेले रहते हैं। शहर में यहाँ उनका कोई नहीं है, पता नहीं खाएँगे कि नहीं खाएँगे, डॉक्टर के पास जाएँगे कि नहीं जाएँगे। एक ऐसा भी वक्त आता है कुछ लोगों का, जो एक पॉवर सेण्टर बनाना चाहते हैं कि इससे पहले कि सर कुछ कहें, एक लड़के को बुखार हो गया तो अस्पताल और ये सब करते घूम रहे हैं। किसी के पास पैसे नहीं हुए तो उसका हवाईजहाज का टिकट करा के उसे भेज दिया है। और मुझे बताया जा रहा है कि हमने यह कर दिया है। अब मैं क्या करूँ भाई! अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है, अब वो खर्च जो है वो ग्रुप पर क्यों आए? आपने आगे बढ़कर किया है तो कीजिए, आपका उनका सम्बन्ध है, आप लोग मित्र हैं। तो यह एक अलग-ग्रुप बनने लगता है। यात्रा के समय भी एक अलग ग्रुप बनने लगता है। जो मिक्सअप नहीं हो रहा है, तो उन सबको काम के समय एक साथ लाने की जो कोशिश होती है, बगैर इस बात की परवाह किए कि कौन किस ग्रुप में है। मेरा ऐसा मानना है कि जितनी आपकी ग्रुप में उमर बढ़ती जाती है उतनी ही ज़िम्मेदारी भी बढ़ती जाती है। ज़िम्मेदारी अंक के प्रति और उससे बढ़कर रंगकर्म के प्रति। और यह कि आप मिसाल बनें जो नए लोग आ रहे हैं उनके लिए भी। ऐसा भी देखा जाता है कि बहुत-सारे साल हो गए हैं, वो ज़्यादा काम तो नहीं कर पाते या पातीं, लेकिन हैं वो सीनियर। और उनका विकास होना रुक गया। सीनियर हो गए न वो! तो अब सीखने की क्या ज़रूरत है! ऐसी सोच से उनकी ग्रोथ रुक जाती है। जब ग्रोथ रुक जाती है तो वो सड़ने लगता है, सड़ने लगता है तो बदबू फैलती है और बदबू से विकार होता है। पूरे ग्रुप में विकार फैल सकता है या फैलता है। इस बात को भी हमने ऑब्जर्व किया है बहुत बार। हमारे यहाँ ऐसे लोग भी हैं जो बीस-बाईस साल से काम कर रहे हैं और हर पल ग्रो कर रहे हैं।

कुछ ऐसे लोग, जिन्हें आप समते हैं कि उन्होंने 'अंक' की ग्रोथ में बहुत सहयोग दिया है?

वो दस-बारह नाम होते तो मैं ज़रूर लेता। जैसा मैंने पहले कहा कि जो रंगकर्मी हमारे साथ दस दिन काम कर गया, वो भी तो योगदान दे गया और वो दो वर्ष काम करने के बाद बीच में छोड़कर चला गया उसका भी योगदान है, जो रनिंग शो छोड़कर चले गए, जिन्होंने हमारे सामने चुनौती खड़ी कर दी कि शो चलता रहे, उनका भी बहुत बड़ा

थिएटर का सबसे बड़ा गुण है कि आप एक अभिनेता या रंगकर्मी की तरह से ग्रो हो रहे हैं या नहीं, यह बहुत मैटर नहीं करता। आप इनसान की तरह ग्रो हो रहे हैं, यह ज्यादा मैटर करता है। मैं यह मानता हूँ कि मेरे ग्रुप में बी ग्रेड एक्टर-एक्ट्रेस हैं, लेकिन वो इनसान ए ग्रेड हैं, इतने बढ़िया इन्सान हैं। नई दो लड़कियाँ हमारे ग्रुप में आईं उस समय और उन्हें लगा कि आहा-कितना बढ़िया ग्रुप है, यह तो परिवार है। उनके परिवारों से भी माता-पिता, भाई-बहन आने लगे—नाटक देखने, मिलने-जुलने, उनको लगा आपका ग्रुप तो आदर्श है, कमाल का है, कोई बड़ा-छोटा तो है ही नहीं, आप तो सबसे ज़्यादा काम करते हैं। बाद में कुछ महीनों बाद पता चला कि उन लड़कियों ने कहा कि अरे, शुरू-शुरू में जो देखा वैसा तो नहीं है। यहाँ तो बहुत पॉलिटिक्स है। सर को पता चले तो उन्हें कैसा लगेगा? उनमें से एक लड़की आई-मुझसे मिलने-उसने बताया कि सर! फलाँ ऐसा कहते हैं- वैसा है। मैंने कहा- देखो अगर मेरे पीछे से बातें हो रही हैं तो अच्छी बात तो नहीं है, लेकिन सच नहीं हो सकतीं, क्योंकि अगर वो सच होती तो मेरे सामने होतीं। अगर इसलिए नहीं कही जा रहीं कि मुझे कड़वी लगतीं, तो कड़वी से कड़वी बात को अच्छे ढंग से कहने का तरीका तो थिएटर आपको सिखाता ही है। आपको लिखित देने में किसने रोका है! आप नाम न लिखिए एक एसएमएस-ई-मेल भेज दीजिए। तो जब तक कि कोई बात सामने न हो तो इतनी मैटर नहीं करनी चाहिए। हालाँकि यह जानकर मुझे तकलीफ है कि मेरे ग्रुप में ऐसे लोग भी आ गए हैं। और यह भी निश्चित है कि ऐसे लोग ज़्यादा दिन नहीं रहेंगे। वो अपने-आप निकल जाएँगे। उन्हें निकालना भी नहीं पड़ेगा। और वही हुआ, अंक के तीस वर्षों में मुझे लगता है कि शायद हजार एक्टर आए-गए होंगे। शायद ज़्यादा भी हों। किसी नाटक में भीड़ में खड़ा होकर नारे लगाता है वो भी अपने-आप को अंक का कहता है। मामला ख़ुशी का है, लेकिन...

कॉन्ट्रीब्यूशन है। अंक या किसी भी संस्था के बढ़ने में सबसे ज़्यादा ज़रूरत होती है धैर्य और सहनशीलता की। जिन लोगों ने भी इन दो गुणों के साथ काम किया है, उनका कॉन्ट्रीब्यूशन औरों से थोड़ा ज़्यादा है। क्योंकि मैं अगर दस नाम लूँगा तो हो सकता है कि और लोग मेरी बात का बुरा मान जाएँ, जो मैं नहीं चाहता।

'अंक' को 'अंक' क्यों कहा?

कोई वजह नहीं थी। अमूमन होता यह कि दिनेश ठाकुर प्रोडक्शन रख लेता। मेन था छोटा-सा कोई नाम हो। दो शब्दों के नामों से मुझे खासा लगाव भी है। अंक एक तो नाटक का अंक होता ही है। अंकों में हिसाब-किताब वाला अंक भी है। अंक गोद भी है। अंक पेन के टिप को भी कहते हैं। अंक के बहुत-सारे मायने हैं। बाद में ये सारे मायने निकलते रहे। पहले इसके पीछे बहुत ज़्यादा सोचा नहीं था। सलिल चौधरी साहब के यहाँ मेरा बहुत आना-जाना था। उनकी बेटी तूलिका उस समय फाइनआर्ट्स पढ़ रही थी। तो उस समय मैंने उसे इसका एक मोनोग्राम बनाने को कहा था। अंक जो नाम है हमारे लेटरहैड्स पर हर जगह लिखा, वो 'ओरिजनली' उसने बनाया था। किसी ने एक बार पूछा कि अरे यह 'एएनके' क्यों लिखा जाता है? ये क्या होता है, तो हमारे बृजभूषण साहनी साहब ने कहा एएनके मतलब- 'आओ नाटक करें'

कौन लोग हैं जो शुरू से अब तक बैकस्टेज से जुड़े रहे?

ऐसा तो कोई बैकस्टेज वाला बचा नहीं है। क्योंकि शुरू से ऐसे बहुत कम लोग आए जो बैकस्टेज करना चाहते थे। एक्टिंग करना ही नहीं चाहते थे। और उन्होंने महारत हासिल की इस काम में। पिछले 10-15 सालों से जो लड़के-लड़कियाँ आए हैं वो बैकस्टेज कर रहे हैं पर फ्रण्ट स्टेज आने की कोशिश में कि बैकस्टेज से 'ग्रुप' मे घुस जाओ, फिर धीरे-धीरे फ्रण्ट स्टेज में आ जाओ। ज़ाहिर है कि फ्रण्ट स्टेज में आ जाओ, चार-पाँच नाटक कर लो, डायरेक्टर्स को दिखाओ और फिर सीरियलों में निकल जाओ या जहाँ भी निकलना है। एक अरसे तक बहुत तकलीफ होती थी, क्योंकि हम इतना ट्रेण्ड करते हैं, मेहनत करते हैं। आप सोचिए, एक एक्टर, जिसको हम कास्ट करते हैं, रिहर्सल करते हैं, मुश्किलों से ट्रेण्ड करते हैं, और फिर ज़ाहिर है उसके लिए कपड़े बने होंगे, तस्वीरें खिंची होंगी, इतना पैसा खर्च किया उसके पीछे। ज़ाहिर है उसने तो कोई पैसा खर्च नहीं किया न! उसने सारा ज्ञान पाया, नाम पाया और फिर वो छोड़कर चल दिया। उसके जाने के बाद हम लोगों की समस्या यह हो गई कि अब उसकी जगह दूसरे को तैयार करो, क्योंकि नाटक तो बन्द नहीं किया जा सकता। और बाकी जो लोग नहीं गए, जो हैं, उन्हें बहुत तकलीफ होती है, दोबारा रिहर्सल में आने में। क्योंकि उनके आने-जाने का खर्चा बढ़ता है, रिहर्सल की जगह का खर्चा, फिर उनके कपड़े बने, तस्वीरें खिंचें, यह सब ग्रुप पर भी बोझा होता है। अब पिछले दो-चार सालों में यह बहुत बढ़ गया है, कि बिना कुछ कहे ग्रुप छोड़कर निकल जाना।

इसका कारण आप टेलीविजन के बूम को मानते हैं?

बिलकुल, टेलीविजन का बूम इसका सबसे बड़ा कारण है। यह भी नहीं है कि भई, वहाँ दूरदर्शन में पहले पाँच सौ रुपए रोज़ मिला करते थे। अब पाँच हजार मिलते हैं! पन्द्रह हजार भी मिलते हैं। पर चैन कहाँ पड़ रहा है! मेरा कहना है कि थिएटर में अगर आप एक्टर को पर-शो पाँच हजार रु. भी देना शुरू कर दें तब भी एक्टर भागेगा क्योंकि टेलीविजन में जितना पैसा मिल रहा है, उतना थिएटर कभी दे ही नहीं सकता। क्योंकि टेलीविजन में कितने प्रायोजक होते हैं, वहाँ लाखों का मामला होता है। हम कहाँ बराबरी करेंगे! यह एक स्थिति बनी रहेगी। मैं इसके लिए कोई शिकायत नहीं कर रहा। मैं तो इसके लिए प्रसन्न हूँ कि जो चार लोग जाते हैं, उनके पीछे 14 लोग आने वाले खड़े रहते हैं। लेकिन यह भी एक मोह बन जाता है, लगाव हो जाता है साथ में काम करने वालों से, वो जाते हैं छोड़कर, तकलीफ़ होती है, पर फिर कोई और आ जाता है, इस तरह चलता रहता है। लेकिन उन सारे अनुभवों ने मुझे कठोर नहीं किया है। बस, धुन एक ही होती है कि नाटक लगातार होने चाहिए, शो लगातार होने चाहिए।

कौन-सी ताकत महसूस करते हैं कि इतनी समस्याओं के बावजूद 'अंक' को लगातार चल के यहाँ तक लेते चले आए आप?

वो मजबूरी है, आप समझो एक स्वायत्त है, आदत। साँस लेते हैं आप, आदत होती है न, ऐसे ही थिएटर है, एक नशा। हर रोज़ रिहर्सल। क्योंकि शो होना चाहिए. उसके बगैर तो जी ही नहीं सकते, ऐसा हो गया है। हमारा अपने-आप से ही मुकाबला रहता है कि यह जो नाटक किया था अब अगला उससे बेहतर होना चाहिए। हमारा अभिनय उससे बेहतर होना चाहिए। प्रोडक्शन, लाइटिंग सब उससे बेहतर होना चाहिए। हमें किसी और से मुकाबला थोड़े ही है! यह जो लगातार दर्शकों से मिलने वाली बात होती है, शो के पहले तीन घण्टियाँ बजती हैं ना, तो पहली घण्टी जब बज जाती है, हम लोग प्रार्थना करते हैं सब लोग, तो मुझे लगता है कि पहली घण्टी में सब लोग आ जाते हैं थिएटर के अन्दर, तो पहली और तीसरी घण्टी के बीच में दूसरी घण्टी क्यों होती है— 'अरे बजाओ और शुरू करो।' ऐसा लगता है मेरा घर-परिवार, सब लोग आ गए हैं, अब रोको नहीं, शुरू कर दो अब तो। और एक बार जो शुरू हो गया, मंच पर पहुँचे तो लगता है, भई, अब कोई कष्ट नहीं है, कोई दुःख, कोई चिन्ता नहीं है। घर आ गए।

कभी हिम्मत हारने जैसा भी हुआ कि ग्रुप के लिए जीवन बेकार कर रहा हूँ, अब बन्द कर देता हूँ, जैसी निराशा ने घेरा हो?

नहीं, बिल्कुल नहीं। कभी-कभी सुनता हूँ कि लोग कहते हैं, हमने हिन्दी थिएटर को जीवित रखा हुआ है, बिल्कुल ग़लत बात है। हिन्दी थिएटर न होता तो क्या हम जीवित होते? हम क्या हैं- कौन हैं जो हिन्दी थिएटर को जीवित रखेंगे? हिन्दी थिएटर ने हमें जीवित रखा है! आज अगर देश-भर में लोग हमें जानते हैं तो फिल्म या टेलीविजन की वजह से नहीं, थिएटर की वजह से जानते हैं। ऐसा नहीं है कि डिप्रेशन

के पल नहीं आते, या बहुत तनावपूर्ण स्थितियों से नहीं गुज़रना पड़ता, मतलब ज़्यादा देर तक नहीं रहते उस मनोस्थिति में, लेकिन उससे निकालने में प्रीता का बहुत बड़ा हाथ है मेरे साथ। प्रीता का भी पूरा समर्पण थिएटर के लिए है। उसे टेलीविजन या सिनेमा, किसी से कोई लगाव नहीं है। नौकरी है और थिएटर। जब ऐसा व्यक्ति बराबर आपके साथ हो, अभिनेत्री के रूप में भी हो और ग्रुप चलाने में भी हो, तो इससे अच्छी स्थिति तो कोई हो ही नहीं सकती।

आज जबकि इतना ग्लोबलाइजेशन है और मल्टीनेशनल आ गई हैं, तो नाटकों को प्रायोजक मिलना आसान हुआ है क्या? चैनल्स के बूम से किसी तरह का फ़ायदा नाटकों को भी हुआ है क्या?

मैं प्रचार-प्रसार की सोच सकता हूँ। पर बेचना-खरीदना एकदम अलग चीज़ें हैं। साल में एक बार नाट्योत्सव के लिए हमें प्रायोजक ढूँढने पड़ते हैं। कभी आसानी से हो जाता है, कभी कष्टों से हो जाता है, कभी नहीं भी होता है। इस देश में दुखद स्थिति यह है कि हिन्दी को बढ़ाने के लिए कोई तैयार नहीं है। हम बराबर मिलते हैं लोगों से, कोशिश करते हैं। लेकिन नहीं...। अंग्रेजी कितने लोग बोलते हैं! सौ करोड़ में से आप बीस परसेंट भी मान लीजिए, पर साठ फीसदी लोग हिन्दी बोलते-समझते हैं इस देश में। लेकिन साठ प्रतिशत लोगों की भाषा, इस देश के लोगों की सबसे बड़ी सम्पर्क भाषा, देखिए विज्ञापन वाले भी रोमन में लिखते हैं लेकिन हिन्दी ही लिखते हैं, पर उसके लिए कोई प्रायोजक नहीं है। कोई जान-पहचान हो तो अलग बात है, लेकिन उसके लिए खुद से आगे बढ़कर कोई नहीं आता। जबकि अंग्रेजी का देखिए, फैशन शो होते हैं, बाजार है न! फ्रंट पेज पर तस्वीरें छपती हैं। हिन्दी थिएटर बाजार नहीं है। ब्रिटिश काउंसिल का अंग्रेजी नाटक आता है या कोई अमेरिकन नाटक आता है तो पूरा बाज़ार है उसके साथ। वो बाज़ार है, पर हम लोग कहाँ हैं बाज़ार में! मैं तो अंक को घर कहता हूँ, हमारे पास बेचने के लिए कुछ नहीं है और खरीदने के लिए पैसे नहीं हैं। सीधी बात है, हमारे नाटकों में जैसे 'घर' में आप आते हैं, स्वागत करेंगे और बढ़िया नाटक परोसेंगे आपको। और विनम्रता से आपको आराम पहुँचाएँगे और बढ़िया आराम देंगे। हम आपको आपकी टिकट के पैसों के दाम नहीं दे रहे। डेढ़-दो सौ रुपए क्या होते हैं भई! हिन्दी थिएटर अभी तक तो बाज़ार नहीं हुआ है, हालाँकि बाज़ारी चीज़ें बहुत आनी शुरू हो गई हैं। मसलन, हम पर भी प्रेशर आता है और लोग कर ही रहे हैं, फ़िल्म के जो पुराने सितारे हैं वो काम कर रहे हैं। पुराने बहुत जान-बूझकर कह रहा हूँ, मुझे पिटे हुए सितारे कहना चाहिए। उससे क्या होता है कि प्रोडक्शन का दाम बढ़ जाता है। अब वो भी जब कुछ ख़त्म होने लग गए और जो बचे हैं उन्होंने मना कर दिया तो वो टेलीविजन के सितारों पर आ गए। क्योंकि जो फ़िल्मों के सितारों से भी बड़ी चीज़ बन गए हैं। शुरुआत में यह चीज़ थी। दुबई में जो चैनल दिखाए जाते हैं, उनके ही स्टार होंगे तो नाटक में बुलाए जाएँगे। मेरी जानकारी में कम-से-कम सौ नाटक बारह महीने में शुरू होते हैं टेलीविजन और फ़िल्म के लोगों को लेकर। उनकी निगाह मुम्बई शहर के दर्शक पर नहीं है, उनकी निगाह विदेश पर है। सौ नाटक यहाँ लॉन्च होते हैं और उसके बाद वो बन्द हो जाते हैं। एक 'तुम्हारी अमृता' को छोड़कर बाकी सब नाटक कहाँ हैं? बल्कि कुछ नाटक तो भारत के लिए तैयार ही नहीं किए जाते, वो तैयार ही ब्रिटेन, अमेरिका के लिए किए जाते हैं। वो चौदह शो के लिए

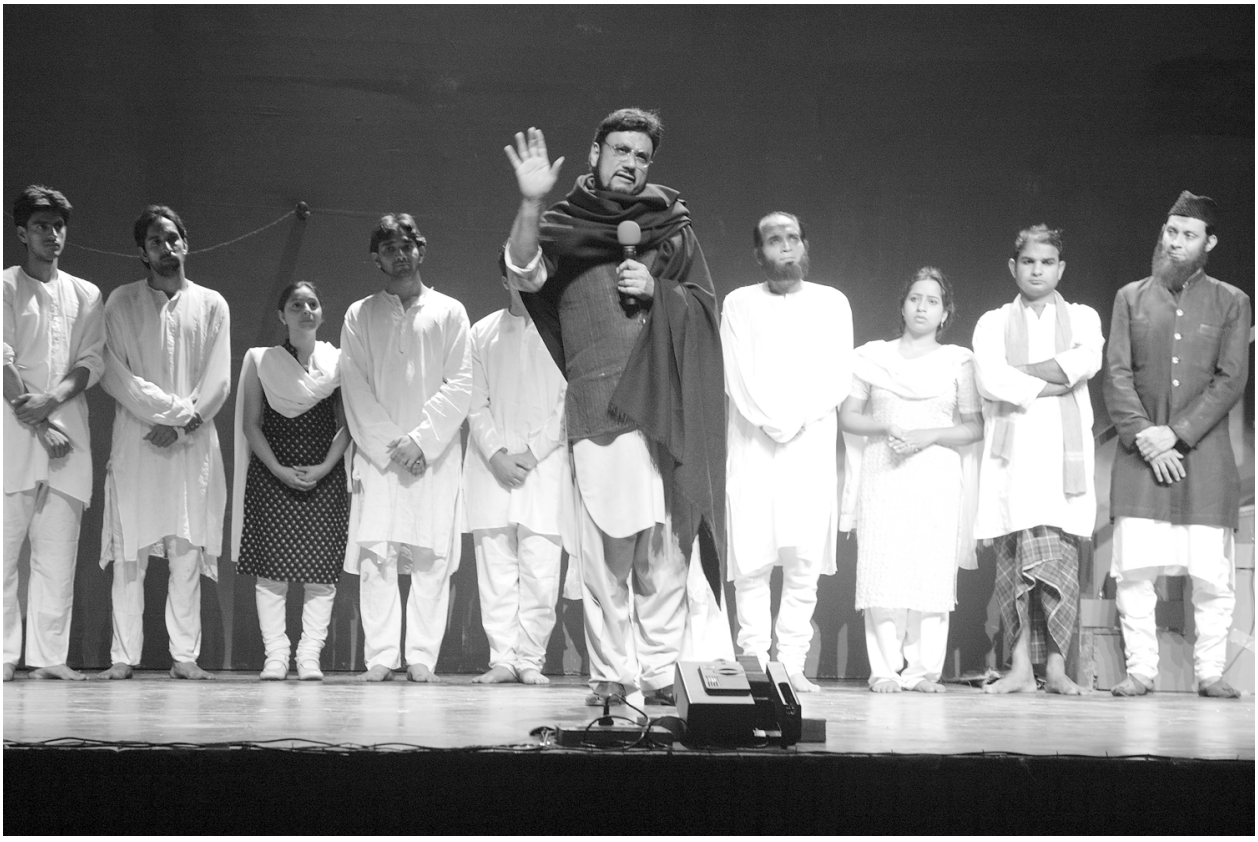

जाते हैं और चार शो में ही दम तोड़कर वापस आना पड़ता है। संजय गरोड़िया, हमारे बहुत अच्छे दोस्तों में से हैं, वो आमतौर पर ऐसे ही थिएटर करते हैं। कितने कामयाब हैं, वो तो वही जानें। लेकिन नाटक मैंने देखे हैं सब। ऐसे ही बहुत-सारे लोग, एक टीवी स्टार या किसी पुराने फ़िल्म स्टार को ले लिया, तो वो ग्रुप थिएटर नहीं है। वो चार-पाँच शो होते हैं, टिकट वाले तो एक-दो ही होते हैं, कुछ दिल्ली-कोलकाता में बिक जाते हैं, उसके बाद कुछ नहीं। हमारा जो दर्शक वर्ग है, कॉमन मैन तो देख ही नहीं पाता। उसको। इस कमर्शियल थिएटर का एक और अंग है 'हिंगलिश थिएटर।' जिसमें सीधे-सीधे सेक्स और फूहड़ कॉमेडी होती है, उम्र इनकी भी नहीं होती। सौ में एक-दो नाटक कामयाब हो गए और पैसे कमा लिए तो उसके बाद क्या! मुझे कोई आपत्ति नहीं है इस सबसे, जैसे बड़े-बड़े मॉल बन गए हैं, मुझे क्या आपत्ति हो सकती है! अभी इतने ब्लास्ट हुए मुम्बई में, इतने लोग मर गए और खबरों के बीच एक न्यूज चैनल पर बराबर कमर्शियल ब्रेक हो रहे थे और विज्ञापन दिखाए जा रहे थे, मुझे क्या शिकायत हो सकती है? उस रात का एक विजुअल याद आता है कि जिस डिब्बे में ब्लास्ट हुए उसमें शायद आंतें लटक रही थीं या क्या था, कुछ ऐसा था, वो दिखाया जा रहा था और उसके बाद उन्होंने कमर्शियल ब्रेक लिया और किसी मशहूर साबुन कम्पनी का विज्ञापन था कि नहाने से आपकी खाल चमक जाएगी, इत्यादि। मतलब न्यूज चैनल बेशर्मी से ब्रेक ले रहा था।

क्या आपत्ति कर सकते हैं हम, जहाँ वैल्यूज इतनी तेज़ी से बदल रही हैं कि सही या गलत सोच पाने का समय भी नहीं मिल रहा? मतलब यह कि जो भी बेच सकते हों बेच लो, कल हो न हो, बेच लो, आज ही, अभी ही बेच लो, यही बराबर चल रहा है। अंक इस सबका हिस्सा नहीं है और न कभी होगा। जिन घरों में आप खाना खाने जाएँ और खाने के बाद वो आपको बिल और पैसा दें, वो घर, घर नहीं होते हैं। नेशनल सेण्टर फॉर परफॉर्मिंग आर्ट्स, राष्ट्रीय केन्द्र बनाते हैं वो लोग, आज कितनी कलाएँ वहाँ परफॉर्म हो रही हैं? पूरा बाज़ार खुल गया है। थिएटर में बेटे की सगाई कीजिए, पैसा दे दीजिए। आप कितना बढ़िया मार्केट कर सकते हैं अपने नाटक, अपनी प्ले रीडिंग, अपनी रिहर्सल को, आप उतने ही सफल हैं। सफलता का पैमाना पैसा हो जाता है। आज हम जब दोस्तों से पूछते हैं कि तुम्हारा नाटक कैसा रहा, तो जो दूसरे रंगकर्मी हैं वो यह नहीं कहते कि सफल था या असफल था या ठीक है। कहते हैं, कलेक्शन 80 फीसदी था। कहने का मतलब है कि बाज़ार में आप लग्जरी की चीज़ें खरीद सकते हैं लेकिन आराम तो आपको घर में ही मिलता है। इसीलिए आजकल नाटकों में भी टेक्निक बड़ी हो गई है, कैसी-कैसी लाइटें-साउण्ड सब... लेकिन नाटक देखकर निकलिए तो पता चलता है कि कहना क्या चाहते थे भाई? पर ठीक है, देश आज़ाद है, आपको कुछ भी खरीदने और बेचने की आज़ादी है। पर यहाँ मेरी मजबूरी है। मैं बाज़ार को बाज़ार की जगह रखता हूँ, और बाजार में मेरा घर नहीं है। दोनों अलग-अलग चीज़ें हैं। आज लोग खाना खाने के लिए भी आपको घर में बुलाते हैं वो भी उनकी मार्केटिंग स्ट्रैटेजी का एक हिस्सा होता है, सो डिस्मास्टिंग...।

'अंक' की यात्राओं के बारे में बताएँ। आप लोगों ने देश-विदेश में अब तक कहाँ-कहाँ प्रदर्शन किए हैं?

मॉरिशस के अलावा विदेश में हम कहीं नहीं गए। शायद अपनी इन्हीं हरकतों की वजह से नहीं गए। हम किसी स्टार को, स्टार की तरह इस्तेमाल नहीं करना चाहते। अंक ने स्टार बनाएँ हैं। अंक में रहकर लोग स्टार बने हैं। अंक को चलने के लिए किसी स्टार की ज़रूरत नहीं पड़ी। ग्रुप थिएटर के लिए ऐसी स्थिति बहुत घातक होती है। पूरा ग्रुप जानता हो कि इस आदमी की वजह से सब शो बिक रहे हैं। और वो भी जानता हो कि मेरी वजह से पूरा ग्रुप चल रहा है तो उसके और पूरे ग्रुप के बीच में कितना बड़ा फ़ासला है। मतलब वो दाता और वाचक वाला मामला हो जाता है। उसको सारी सुविधाएँ मिलेंगी, रहने, आने-जाने की और उसका कोई अनुशासन नहीं होगा। क्योंकि उसके नाम से बिक रहा है सब। तो अंक में तो वो स्थिति नहीं आएगी कभी। मेरा सबसे बड़ा स्टार वो होता है जो मेरा शो खराब कर सकता है। बैकस्टेज का लड़का। सही समय पर प्रॉपर्टी एक्टर

क्या नाटक करने के लिए पूरी तरह समर्पित, दृढ़ लोग आ रहे हैं?

हिन्दी में सबसे बड़ी समस्या है कि हिन्दी थिएटर आपको एक रेस्पेक्टेबल रोजी-रोटी आज भी नहीं दे पा रहा है। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा रेपोर्टरी भी कितने सालों के लिए है, ज्यादा-से-ज्यादा चार-पाँच साल के लिए, उसके बाद क्या करेंगे आप? बाकी बहुत-सारे संस्थान हैं, वहाँ नौकरी कीजिए या पढ़ाई, जैसे थिएटर ट्रेनिंग, जो बड़ी इम्पोर्टेंट होती जा रही है। स्कूल्स में भी ड्रामा एक सब्जेक्ट आ जाएगा धीरे-धीरे। लेकिन परफॉर्म तो नहीं हो रहा ना! सिर्फ परफॉर्म करके या डिजाइन करके आप जिन्दा नहीं रह सकते। इसका सबसे बड़ा कारण मैंने आपको बताया कि हिन्दीभाषी क्षेत्रों में टिकट खरीदने का रिवाज बिल्कुल नहीं है। जहाँ दर्शक टिकट नहीं खरीदेगा, वहाँ रंगकर्मी क्या खाएगा? तो अनुदान, सरकारी अनुदान, या निजी संस्थानों से जो सहायता आती है, नहीं पर जिएँगे न वो! क्योंकि दर्शक तो आपको उतना मान नहीं दे रहे। इस काबिल नहीं समझते कि आपके लिए वो सौ रुपये की टिकट खरीदें। आदत नहीं है और डालने की कोशिश भी नहीं हो रही। तो इससे कहाँ से हमारी रोजी-रोटी चलेगी? इस देश में शुरू से एक सवाल चला आ रहा है- रोटी, कपड़ा और मकान। आजादी के साठ साल बाद तक यह इन्तजाम तो कर नहीं सके। साफ पानी पीने का दे नहीं सके। हम जब शिक्षा की बात करते हैं, तो बहुत बड़ी मिनिस्ट्री है एज्यूकेशन... तो कहेंगे, देखिए आपने रोटी, कपड़ा और मकान कहा था। शिक्षा आपने कब माँगी? फिर संस्कृति की बात कहाँ से आ गई? शिक्षा पर काम कर रहे थे। संस्कृति कैसे आई? संस्कृति तो संस्कार से आएगी, आपके घर के जो संस्कार हैं। सरकार कल्चर को अपनी जिम्मेदारी मानती ही नहीं है। जबकि किसी भी देश का कल्चर, उस देश के लिए बहुत बड़ा विषय होता है, होना चाहिए भी। दुनिया के हर देश में देखिए। फ्रांस, जापान, स्पेन, अमेरिका, सब जगह अपने कल्चर पर कितना पैसा खर्च कर रहे हैं वो लोग! हमारे यहाँ सिर्फ ये है, जो प्रान्तीय-भाषी लोग हैं, उन्हें अपने कल्चर से बड़ा प्यार है। इसलिए गुजराती, बंगाली, मराठी, मलयाली-अपनी भाषा के नाटक, अपनी भाषा के साहित्य के लिए दीवाने हैं। मराठी आदमी अपने अभिनेता या अभिनेत्री को आसमान पर बिठाता है, उनकी तस्वीरें घर पर लगाता है। उनके लिए बात भी ऐसे करता है.... हाँ भई, अपने तेंडुलकर... अपने कानेटकर। हिन्दी में कोई करता है क्या? तुलसी, सूरदास और मीरा के अलावा किसी के लिए, अपने कह कर बात कहाँ की जाती है। अपने निरालाजी, अपने अज्ञेयजी कौन कहता है? कोई है कहने वाला? हिन्दी तो ऐसी भाषा हो गई है जिस पर हिन्दीभाषी को ही गर् नहीं है। वो अपने बच्चों को अंग्रेजी और अंग्रेजी संस्कृति सिखा रहा है। वो अपने बच्चे को पिताजी कहना नहीं सिखाता... पापा, डैड कहना सिखाता है। तो क्या करोगे?

को नहीं दी... सोचो, उसको नोटों की गड्डी देनी है एक्टर को, वो उसने नहीं दी... तो एक्टर क्या करेगा... खाली हाथ से नोट गिनेगा... मतलब गड़बड़ हो गई, मेरा स्टार वो है। देश-भर हमने घूमा है— गाँधीधाम से गुवाहाटी, कानपुर से बंगलौर, सिर्फ दो जगह अभी तक हम लोग नहीं जा पाए, उड़ीसा और केरल। हर साल 20-25 प्रदर्शन बाहर करते हैं। पर इधर कुछ वर्षों से फ़िल्म और टीवी के कलाकारों ने हिन्दी थिएटरों में काम करना शुरू कर दिया। हम इस तरह का थिएटर नहीं कर पाए तो हमारे दूसरे शहरों के प्रायोजक जो हैं, उन्होंने लोगों को बुलाना शुरू कर दिया।

देशभर में जो दूसरे सरकारी नाट्योत्सव होते हैं उनमें भी हम किन्हीं कारणों से कम ही बुलाए जाते हैं। लेकिन फिर भी २०-२५ शो'ज हर साल हो ही जाते हैं। अंक में एक बात कमाल की है कि हम सब एक साथ ट्रैवल करते हैं, सब एक साथ खाना खाते हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है कि ये दिनेशजी का या प्रीताजी का मेकअप रूम है, इसमें कोई नहीं जा सकता। कभी-कभी प्रायोजकों की मजबूरी की वजह से टीम को दो जगह रखना पड़ता है, लेकिन सब सिर्फ सोने के लिए ही दो जगह जाते हैं, बाकी सारे समय साथ ही होते हैं। संगीत कला मन्दिर, कोलकाता के लिए जब हम जाते हैं तो वहाँ तो बहुत कमाल होता है। वहाँ एक महाराज हुआ करते हैं, जो हम सबके लिए खाना बनाते हैं। तो महाराजजी अमूमन लड़कियों से ही पूछते हैं कि शाम को खाने के लिए क्या बने इत्यादि-इत्यादि। और बहुत बार यह होता है कि ग्रुप की तमाम लड़कियाँ मिल-जुलकर वहाँ खाना बनाती हैं। वो बहुत मज़े का माहौल होता है। और हमारे यहाँ यह भी नहीं है कि अगर हम सब दक्षिण भारत में गए हैं तो हमको दाल-रोटी ही चाहिए, वहाँ दक्षिण भारतीय खाना भी मन से खाएँगे और बंगाली माछ-भात भी खूब मन से खाते हैं। यह कहते हुए मुझे गर्व महसूस होता है कि हमारी टीम के किसी सदस्य से आज तक हमारे प्रायोजकों को कभी परेशानी नहीं हुई। शायद यही बड़ा कारण है कि हम जहाँ एक बार बुलाए जाते हैं, वहाँ बार-बार बुलाए जाते हैं। और सभी लोग जानते हैं कि हम नाटकों के प्रदर्शन के लिए जा रहे हैं। किसी बारात में नहीं जा रहे। प्रदर्शन अच्छे हो गए तो यात्रा भी सुखद है। यात्रा-रहना-खाना सब कितना ही अच्छा हो, पर प्रदर्शन अच्छा नहीं है तो सब बेकार है।

बैकस्टेज का महत्व कितना रहता है थिएटर में?

बैकस्टेज पर अनुशासन बहुत ज़रूरी है। कपड़े, चश्में, जूते हर बार आप मेकअप चेंज करते हो, समय होता नहीं है ऐसे में जरा भी कुछ 'मिस' कर दें तो गड़बड़ हो जाएगी। इसलिए बैकस्टेज बहुत स्ट्रांग होना चाहिए. एक परफेक्ट शो के लिए तो बैकस्टेज एकदम रीढ़ की हड्डी है। एक टेंशन-अनुशासन बैकस्टेज में भी हम बराबर बना कर रखते हैं। स्टेजक्राफ्ट को आजकल नाम दिया जा रहा है थिएटर मैनेजमेण्ट। जैसे बिजनेस मैनेजमेण्ट होता है। पर अभी उसकी कोई फॉरमल ट्रेनिंग शुरू नहीं हुई है। पर हम लोग ट्रेनिंग देते हैं उसकी भी।

क्या आपको कभी ऐसा महसूस होता है कि आपने बहुत बड़ी ज़िम्मेदारी ले ली है? 'अंक' की ज़िम्मेदारी तो है ही, साथ ही हिन्दी रंगमंच के प्रति भी एक तरह की ज़िम्मेदारी? जिस तरह भी हो, वे चलते रहें, अच्छा कर सकें तो बहुत बढ़िया है,

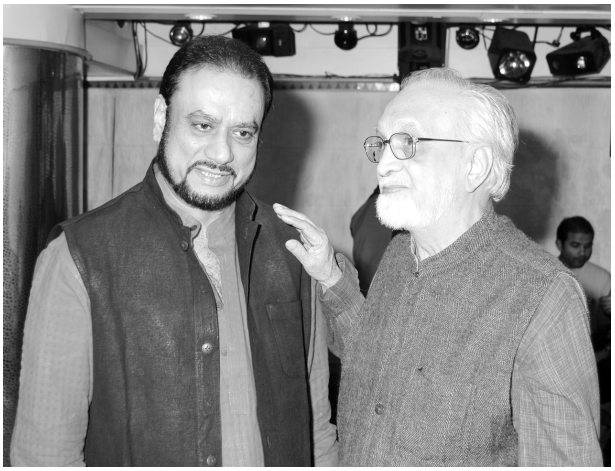

विजय तेंडुलकर, गुलज़ार और पुष्पा भारती के साथ दिनेश ठाकुर

अंक के भविष्य को लेकर कोई प्लानिंग?

अभी तक तो यही प्लानिंग है कि तीस साल पूरे कर रहे हैं, धूमधाम से करें। बीस पूरे किए थे तब थोड़े ही सोचा था कि तीस भी पूरे करेंगे। तीस साल पूरे होने पर इतना बड़ा सपना देखा था कि महीने-भर का नाट्योत्सव होगा। अब सिर्फ़ पन्द्रह दिन का उत्सव कर पा रहे हैं। लेकिन यह है कि दो ब्राण्ड-न्यू प्रोडक्शन उसमें होंगे। यह पहली बार होगा। और बहुत-कुछ सोचा है। सेमिनार, पुस्तकों का प्रकाशन, चित्रों की प्रदर्शनी, सब बहुत-कुछ सोच रखा है, पता नहीं होगा कि नहीं। एक अक्टूबर से पन्द्रह अक्टूबर तक दस चुने हुए नाटकों के बीस प्रदर्शन होंगे। सपने तो हमने बहुत कुछ देखे थे। 'पृथ्वी' थिएटर से भी कहा था कि तीसवें वर्ष में आप कृपा रखें। जैसा कार्यक्रम आपने माँगा है कि साल-भर का कार्यक्रम दें, उस तरह से ही हमको तारीखें देते रहें। लेकिन तीस साल में पहली बार ऐसा हुआ कि पृथ्वी थिएटर नहीं कर पाया हमारे लिए कुछ भी। मार्च के बाद जो डेट्स हमको मिली परफॉर्म करने के लिए, वो अगस्त है। एक तीसरा नाटक और करना चाहते थे, पृथ्वीराज कपूर का 'दीवार'। पूरी तैयारी थी कि महीने-भर का उत्सव होगा और यह नाटक उसमें ओपन होगा। ऐसा हंगामा सोचा था। पर कभी-कभी लगता है शायद यह कि पृथ्वी थिएटर अट्ठाइस साल का है, उसमें लगातार रंगकर्म करने का यह इनाम मिल रहा है। यह पृथ्वीराज जी की जन्मशताब्दी है, 'दीवार' खेलना जो है, वो उनके प्रति एक श्रद्धा हम प्रकट करना चाहते थे। इसके पीछे कमर्शियल कुछ नहीं था। कमर्शियल हमारे यहाँ कुछ होता भी नहीं है। महीने-भर का उत्सव होगा, दस शो लगातार उसी के होंगे, यह सब सोचा था। सारे सपने हमारे धूल में मिला दिये।

लेकिन अगर बहुत अच्छा न भी कर सकें, तो भी चलते तो रहे ही?

नहीं, बहुत मुश्किल है यह। यह सोचना भी बेकार है। मैं चला रहा हूँ, तो मेरे बाद भी चलना चाहिए, ऐसा ज़रूरी नहीं है। अंक मेरा निजी सपना है। अब उसमें प्रीता शामिल है। यह सपना हमने शुरू-शुरू में और पाँच-छह दोस्तों के साथ देखा था। तब नहीं सोचा था कि इतने साल तक चलेगा। वो सब दोस्त लोग भी कहाँ चले गए, पता नहीं। मैं यह मानता हूँ कि जो लोग हमारे साथ शुरू हुए थे, वो हमें छोड़कर चले गए, पर अभी भी थिएटर कर रहे हैं, तो मैं मानता कि थिएटर की आग थी उनमें। पर ऐसा तो नहीं हुआ। तो ठीक है, जितना जिसका साथ था, उसने दिया। एक दबाव महसूस होता है हमें आज भी हमेशा। और हम नहीं थे तब भी थिएटर था। हम नहीं होंगे तब भी होगा। हाँ, फॉर्म बदल रहा है। जैसे ज्वाइंट फैमिली सदियों से चली आ रही थी, आज कहाँ है? सब न्यूक्लियस होती जा रही हैं धीरे-धीरे, तो नहीं चलेगा। हम अगर ज़िद मानकर बैठ जाएँ कि वही सही था तो यह तो गलत बात है। यह फैक्ट है कि ज्वाइंट फैमिली टूट रही है, हम उसके नुक्सान-फ़ायदे को बाद में देखेंगे, पर इस सच को सामने रखते हुए हम ह्यूमन वैल्यूज को कैसे बचा पाएँ यह हमारा कंसर्न है। और कितने ही बड़े-बड़े ग्रुप खत्म हो जाते हैं। अपना-अपना काम खत्म करने के बाद चीज़ें खत्म हो जाती हैं, इनसान के साथ भी तो ऐसा ही होता है। अब उसे बोझा नहीं बना सकते न! कला ऐसी प्रक्रिया नहीं है जो आपको बाँधे। हाँ, कमिटमेण्ट होता है। रंगकर्म की स्थितियाँ दूसरी हैं, इसमें लगातार आपको करते रहना पड़ता है। वरना ज़ंग लग जाती है। डांसर अगर रोज प्रैक्टिस न करे तो उनके शरीर से नृत्य निकल जाएगा।

हिन्दी रंगमंच में और किन बड़े ग्रुप्स को आप 'अंक' के बराबर खड़ा पाते हैं?

एक स्वस्थ कॉम्पिटीशन तो होना चाहिए, हमेशा होना चाहिए। पर मैं कोई ऐसी रेस नहीं मानता जिसमें अंक को नम्बर वन पर आना चाहिए। हम सब अपनी-अपनी क्षमता और योग्यता के मुताबिक इसमें योगदान देने की कोशिश कर रहे हैं। कभी कोई और अच्छा काम करता है, कभी हम कर जाते हैं। महेन्द्र जोशी, इप्टा, एक स्वस्थ-सा कॉम्पिटीशन-एक-दूसरे के नाटकों में जाना, मिलना-जुलना, खाना-पीना सब था, पर अफ़सोस, वो सब धीरे-धीरे खत्म होता जा रहा है। मैं ऐसे कितने-सारे लोगों को जानता हूँ जो दूसरे के नाटकों को देखने नहीं जाते, कितने ही वर्षों से नहीं गए। जो लोग यह समझते हैं कि हमीं सबसे अच्छे हैं और इसका काम देखने जाएँ! तो यह सब बेकार है, हम क्या कह सकते हैं इसमें। मैं हरेक का नाटक देखने जाता हूँ। बाकायदा टिकट लेकर देखता हूँ। वो लोग मेरा काम कितना देख रहे हैं, मुझे नहीं मालूम। मैं उनके काम से कितना प्रभावित हो रहा हूँ, यह दर्शक बताएँगे। और वो मेरे काम से कितने प्रभावित हैं, यह भी दर्शक ही बताएँगे।

क्या हिन्दी नाटकों के दर्शक कम हो रहे हैं?

पहली बात, लोगों में यह ग़लत धारणा है कि नाटकों के दर्शक कम हो रहे हैं। हाँ, जब हम लोगों ने यहाँ काम करना शुरू किया था, तब हिन्दी नाटकों का दर्शक ना के बराबर था। आज 'पृथ्वी' थिएटर में हर महीने चालीस शो'ज होते हैं, साल-भर में चार सौ अस्सी शो। इनमें से हम यह मान लें कि 250 हिन्दी के होते हैं और करीब-करीब 500 हिन्दी के दूसरे बड़े थिएटरों में होते हैं। तो साल-भर में साढ़े सात सौ शो होते हैं मुम्बई में हिन्दी नाटकों के। ऑन एण्ड एवरेज हर नाटक को देखने के लिए तीन सौ लोग, तो आप अन्दाजा लगा लीजिए कि कितना दर्शक बढ़ा है। मैं तो टेलीविजन चैनल्स का बड़ा शुक्रगुजार हूँ कि इतने घटिया शो'ज बना रहे हैं कि कोई टीवी देखने के लिए घर पर रुकता नहीं। वो ज़माने गुज़र गए, जो गोल्डन पीरियड था, गया। और सबसे बड़ी बात यह कि कितना भी बढ़िया क्यों न हो टेलीविजन, पर एक्सिस तो वही रहती हैं। और जो इनसान है वो आउटिंग चाहता है, बाहर निकलूँ और लोगों से मिलूँ। क्यों सिनेमा हॉल्स में इतनी भीड़ होती है, जबकि वीडियो-सीडी का प्रचार भयंकर हो चुका है? क्योंकि उसे बाहर जाना है और लोगों से मिलना है। यह सोशल एक्टिविटी है, इनसान तो सोशल है। और टेलीविजन आपको अनसोशल बनाता है, तो तंग आकर इनसान बाहर आता है और आएगा। थिएटर के लिए तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं है, दर्शक वर्ग तो बहुत बढ़ा है। मैंने पिछले दस वर्षों में 'जिस लाहौर नहिं देख्या' या 'कन्यादान' जैसे गम्भीर नाटकों में 18 से 25 वर्ष के लोगों की प्रेसेन्स ज़्यादा देखी है। यही लोग थे जो बैकस्टेज आ रहे थे या थिएटर के बाहर हमारे आने का इन्तज़ार कर रहे थे कि सर! इस बात का मतलब यह ही था न! तो कौन कहता है कि उत्साह कम हो गया है। ये बच्चे तो भागकर आते हैं। मुम्बई में ही नहीं, देश-भर में यही ऑडियंस हमारी उम्मीद है।

मैं तो यह जानता हूँ कि कुछ ऐसे भी ग्रुप्स हैं जो बहुत बुरा काम कर रहे हैं, लेकिन मुझे उम्मीद है कि इसमें से ही एक दिन कुछ अच्छा काम भी निकलेगा। आप देखिए, जब विचारों का भी बहुत कन्फ्यूजन होता है तो उसमें से भी रास्ता निकल आता है। लेकिन कोई ट्रैंड चलता हुआ मैं नहीं देख रहा हूँ। लेकिन यह है कि कोई सेमिनार होता है, कोई ग्रुप 20-25 साल पूरे करता है तो, सब लोग मिलते हैं, खूब बधाइयाँ देते हैं। तब बहुत मज़ा आता है। कोई ग्रुप दस साल पूरे करता है तो मुझे लगता है, मैंने किए हैं। किसी ने बीस पूरे किए हैं तो मैं वहाँ जाकर नाच आता हूँ। क्योंकि बीस साल जिसने पूरे किए हैं, यह तो वही जन सकता है कि उसने कैसे पूरे किए। खेल नहीं है एक ग्रुप को चलाना!

तो जब दर्शक इतना है तो वो नाटक देखने के लिए पैसे क्यों नहीं खर्च करना चाहता?

क्योंकि ये हिन्दीभाषी दर्शक नहीं है। ये ज़्यादातर गुजरातीभाषी हैं। हाँ, होना ज़्यादा चाहिए पर उतना नहीं है, समय लग रहा है। वो तभी होगा जबकि हिन्दी-भाषी लोग भी घर से बाहर निकलकर हिन्दी नाटक देखना शुरू करेंगे, टिकट खरीदकर। बच्चे आकर हमसे कहते हैं कि सर! थिएटर तो फ़िल्मों से भी अच्छा है। फ़िल्में तो पकाती हैं। हाँ, एक बात ज़रूर है, कि पहले जो नाटक लोग तीन-तीन घण्टे आराम से बैठकर देखते थे, अब दो घण्टे से ज़्यादा कोई भी नहीं देखना चाहता है। वो तो मेरे ख़याल से म्यूजिक, डांस सभी जगह हुआ है। तो इसमें कोई हर्ज़ नहीं है। एक शाम में दो छोटे नाटक पचास-पचास मिनट के हो सकते हैं, बिल्कुल हो सकते हैं। एक फ़िल्म में छह कहानियाँ हो सकती हैं तो एक नाटक में दो या तीन नाटक क्यों नहीं हो सकते? लेकिन इतना पॉपुलर नहीं हुआ है यह अभी।

अब तक किन निर्देशकों के काम ने आपको काफी प्रभावित किया?

जो पहला बड़ा नाम था, 62 या 63 में अब्राहिम अल्काज़ी का 'किंगलियर' देखा था। और पहली बार ओम शिवपुरी को अभिनेता के रूप में देखा था। मतलब ग्यारहवीं क्लास में पढ़ने वाले लड़के के दिमाग पर काफी बड़ा जादू था। उन्हीं दिनों सॉन्ग एण्ड ड्रामा डिविजन का प्रोडक्शन हुआ था 'भगीरथ', उसमें गोगा कपूर 'भगीरथ' का किरदार निभा रहे थे। इन दोनों अभिनेताओं की क्या शान थी! क्या डायरेक्शन था! क्या कसाव थ! उसके बाद तो यह हो गया कि एनएसडी का कोई भी नाटक अगर पता चल जाए तो देखने जाता था। इस बीच में हबीब साहब का प्रोडक्शन देखा- 'रुस्तम सोहराब।' चौंका देनेवाला था, अभूतपूर्व काम! उन दिनों जिन नाटकों ने मुझे सबसे ज़्यादा प्रभावित किया वो ओम शिवपुरीजी का 'तुग़लक़' था, अल्काज़ी साहब का 'कंजूस' था और मोहन महर्षि का 'एवं इन्द्रजीत।' दिल्ली में ही शम्भू मित्र का 'बाक़ी इतिहास' देखा था। बाद में शम्भूदा के अनेक नाटकों ने बहुत प्रभावित किया। अजीत बेनर्जी का 'तीन पोयशेर पाला', रुद्रप्रसाद

सेनगुप्ता का 'फुटबॉल', हबीब तनवीर साहब का 'चरणदास चोर', 'आगरा बाजार', टीपी जैन निर्देशित 'पगला घोड़ा' सबने बहुत प्रभावित किया। मुम्बई आने के बाद मराठी रंगमंच से सामना हुआ और पहली बार जाना कि एक अच्छे नाटक के 700-800 शो'ज भी हो सकते हैं। अक्सर उन अभिनेताओं से मिलता और पूछता था कि एक ही नाटक के इतने प्रदर्शन करना उन्हें कैसा लगता है? उनका जवाब सुनकर ओम शिवपुरीजी की बात याद आती थी- अभिनेता नाटक का 50वाँ प्रदर्शन कर रहा होता है, लेकिन दर्शक उस नाटक को 50वीं बार नहीं देख रहा होता है। ज्यादातर लोग पहली बार देख रहे होते हैं। यही एक चीज़ प्रदर्शन को हमेशा ताजा रखती है। और ज़िन्दा लोग, ज़िन्दा लोगों के सामने परफॉर्म करते हैं, ज़िन्दा लोग मशीन नहीं हुआ करते। शिवपुरीजी कहा करते थे- प्रदर्शनों की संख्या जितनी बढ़ती जाए, अभिनय में उतना ही कसाव, उतना ही मंजाव, आत्मविश्वास और प्रतिबद्धता बढ़नी चाहिए। मेरा यह अनुभव उनके साथ 'आधे अधूरे' के सैकड़ों प्रदर्शन करते समय हुआ। साथ ही यह भी कि टिकट बिक्री से उस प्रदर्शन का खर्च निकाल कर अगर एक रुपया भी बचे तो उसका दूसरा प्रदर्शन होना ही चाहिए। इसी राह पर चलते-चलते मैं तो यहाँ आ पहुँचा हूँ, लेकिन कोई अभिनेता या अभिनेत्री बहुत शिद्दत से कहे-वो नाटक बहुत दिनों से नहीं खेला, हम सब सोचने बैठ जाते हैं कि अच्छा चलो, खेलते हैं। कितना नुकसान होगा! हजार-दो हजार पाँच हजार, चलो खेलते हैं। खेल जाएँगे। सच तो यह है कि नाटक हमें पुकारते हैं- भई, बहुत दिन हो गए, हमें कब खेलोगे... बस खेल देते हैं।

आप लोग नए नाटक का चुनाव कैसे करते हैं?

जब हम लोग किसी नए नाटक का चुनाव करते हैं, तो मैं तो बहुत नाटक पढ़ता रहता हूँ, ग्रुप में भी लोग पढ़ते और देखते रहते हैं, तो कोई नाटक उनको बहुत अच्छा लग जाता है। तो फिर हम कई लोग मिलकर देखने जाते हैं या उस नाटक को पढ़ते हैं। उसके बारे में पूरी जानकारी हासिल करने की कोशिश करते हैं और जितने भी मण्डली के सदस्य हैं, जितने भी आ जाएँ, सबके सामने बात रखी जाती है, या नाटक पढ़ा जाता है और फिर उनकी प्रतिक्रिया जानते हैं। अगर प्रतिक्रिया पॉजीटिव हुई तो उसी समय उस पर काम शुरू कर देते हैं कि इसमें कौन-कौन अभिनेता हो सकते हैं? खर्च कितना आएगा? खर्च करने के लिए पैसा कहाँ से आएगा? नाटक सफल हो गया तो ठीक अगर नहीं हुआ तो...। ऐसे एक नाटक की मिसाल मिलती है, 'जाने ना दूँगी' —ऑलिर गोल्डस्मिथ के नाटक का हिन्दी रूपान्तर मैंने किया था। कारन्त जी इसे निर्देशित करने वाले थे। किन्हीं कारणों से नहीं कर पाए। बात सन् सत्तासी की है, मैंने वो स्क्रिप्ट सबके सामने पढ़ी, सबने रिजेक्ट कर दिया, सिवाय एक अभिनेता के। और उसकी शिद्दत और उसका उत्साह देखकर मैंने सबकी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ प्रोडक्शन करने का फैसला कर लिया। 'जाने ना दूँगी' अंक के सफलतम नाटकों में से एक है। जिसे आलोचकों, दर्शकों, सबने खुले हाथों स्वीकार किया। कई बार टीम के लोग पैसे की चिन्ता करते हैं, कि नाटक के लिए इतना खर्च कहाँ से आएगा, पर वो सोचकर पीछे नहीं हटा जा सकता। 'महाभोज' नाटक था जो सबको बहुत पसन्द आया। 51 अभिनेताओं के साथ 25 शो'ज से शुरुआत हुई, लेकिन पूरी लागत का सफाया हो गया। दर्शक आए ही नहीं। पर यहाँ कारण नाटक कम था, उस समय के हालात ज्यादा थे।

हिन्दी रंगमंच और रंग-आलोचक के बारे में आप क्या कहेंगे?

रंग-आलोचक इस देश में न के बराबर हैं। एक अभिनेता की बहुत तैयारी होती है, तब वो अभिनय करता है। निर्देशक की बहुत तैयारी होती है, तब वो निर्देशन करता है। प्रकाश, संगीत, रंग, वेशभूषा। नाटककार भी एक दिन में सुबह उठकर नाटक नहीं लिख देता, बहुत पढ़ा-लिखा होता है तब जाकर नाटक लिखता है। हमरे रंग-आलोचक की क्या कोई तैयारी है? ...मुझे शक है। इसीलिए देश-भर में गिने-चुने रंग-आलोचक हैं। दिल्ली का सीन तो मैं बहुत नहीं जानता... साल में दो-एक बार जाता हूँ तो थोड़ा-सा अनुभव होता है, कि कोई बहुत अच्छी दशा वहाँ भी नहीं है। मुम्बई, जो एक आर्थिक राजधानी है हमारी, यहाँ जो एक कमर्शियल थिएटर है, उसको देखते हुए मैंने जाना है कि आलोचक की कोई तैयारी नहीं है। मैंने यह देखा है पिछले वर्षों में कि जिस नाटक की जितनी बुराई की गई है, वो नाटक उतना ही सफल हुआ है, कमर्शियली। ऐसे बहुत कम नाटक हैं, जिनके बारे में बहुत अच्छा लिखा गया और वो बहुत चले। और यूँ भी देश में हिन्दी की स्थिति तो बहुत अच्छी नहीं है। मुम्बई में तो बहुत ही ख़राब है, ले-देकर एक अख़बार निकलता है, नवभारत टाइम्स। और उसमें भी नाटकों की समीक्षा नियमित रूप से नहीं छपती है। मैं नहीं जानता कि कितने लोग सिर्फ समीक्षा पढ़कर नाटक देखने आते हैं, हिन्दी में, मुम्बई में।

हिन्दी क्षेत्रों में अगर अच्छे समीक्षक हैं...और उन्हें कोई नाटक अच्छा लगता है, तब भी वहाँ तो टिकट वाला थिएटर होता नहीं है तो आप कैसे अन्दाज़ा लगाएँगे कि नाटक कितना सफल है? वो लोग तो मुफ्त में नाटक दिखाते हैं, फिर भी भीड़ टूट कर नहीं पड़ती है। ऐसी स्थिति में समीक्षक के बारे में क्या कहा जाए? बाकी यहाँ-वहाँ कुछ-कुछ छपता रहता है। मुम्बई शहर में तो साहित्यिक पत्रिकाएँ आती ही नहीं, वो भी बिल्कुल पॉपुलर नहीं हैं। अगर एक व्यक्ति समीक्षक है तो उसका हमेशा रोना रहता है कि जगह की कमी है साहब... ढाई सौ शब्दों में ही लिखना है, और हमेशा वो कहता है कि 'एडिटर' ने काट दिया। तो मैं उसे कहता हूँ कि भाई, किसने कहा कि आप ढाई सौ शब्द ही लिखिए... ढाई हजार लिखिए... निर्देशक को दीजिए लिखकर... 'रंगमित्र' बनिए आप। दूर बैठकर निर्णय मत दीजिए आप। और फिर आपको जो लगता है ईमानदारी से बताइए आप, कि मुझे यहाँ यह कमी लगी... यह हो जाता तो बहुत अच्छा था। मेरा कहना है कि 'रंगमित्र' बनना बहुत ज़रूरी है। और उस मित्रता के नाते आप निर्देशक, कलाकारों से आमने-सामने मिलकर बात कर सकते हैं। मतलब तो इस बात से है कि नाटक बेहतर हो, ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचे, उसकी गुणवत्ता बढ़े। टेलीविजन और रेडियो यह काम बखूबी कर सकते हैं। लेकिन वहाँ बाज़ार सर चढ़कर बोल रहा है। फ़िल्मों की समीक्षाएँ इसका प्रमाण हैं। जो जितना इश्तेहार दे देगा, जो जितना पैसा चैनल को पहुँचा देगा, उसी की प्रशंसा होगी, उसी का प्रचार होगा। हिन्दी रंगकर्मी के पास अपना रंगकर्म निभाने तक का तो पैसा नहीं है, वो कहाँ देगा पैसा प्रचार के लिए? और यूँ भी हमारा मीडिया तो मटुकनाथ के प्रेम-सम्बन्ध पर या राखी सावन्त पर ज़्यादा समय बर्बाद करना पसन्द करता है!

कुछ गूँजें-अनुगूँजें

प्रयाग शुक्ल

यह कोई पंद्रह साल पहले की बात है। दिनेश ठाकुर दिल्ली आये हुए थे, और एक शाम हम कुछ खरीदारी के इरादे से चित्तरंजन पार्क की मार्केट में गये थे। वहाँ से लौटते हुए जब हम अपनी गाड़ी की ओर बढ़ रहे थे तो एक बूढ़ी बंगाली महिला ने दिनेश को लगभग 'पुकारते' हुए कहा, 'तुम दिनेश ठाकुर हो न!' दिनेश ने स्वीकृति में सिर हिलाया। हम ठिठक कर खड़े हो गये थे। वह हिंदी मिश्रित बांग्ला में जो कुछ कहती रही उसका आशय यही था कि वह दिनेश की प्रशंसक है और उनके अभिनय को कई बार देखा-सराहा है। आदि। मैं और दिनेश दोनों ही बांग्ला समझ सकते थे सो न तो दिनेश को यह समझने में कठिनाई हुई थी कि वह क्या कहना चाह रही है, न मुझे। उनकी बातों में दिनेश के लिए आशीष भी थी।

ऐसा होता रहता था। दिनेश के साथ ट्रेन में सफ़र किया है। पैदल चला हूँ। टैक्सी में बैठा हूँ। वह कई बार हमें बॉम्बे सेंट्रल छोड़ने आये हैं। देखा है कभी कोई टिकट चेकर, कभी कोई टैक्सी ड्राइवर, कभी कोई ऑफिस कर्मचारी-अधिकारी, कभी कोई रंगकर्मी, उनकी ओर अत्यंत प्रेम के साथ बढ़ा है। हाँ, दिनेश के अभिनय को लोग प्रेम करते थे। यह महत्वपूर्ण है, क्योंकि दिनेश कोई फिल्म- 'स्टार' न थे। वैसा कुछ बनने की उनकी कोई ख़्वाहिश भी कभी नहीं रही। वे तो सच्चे अर्थों में एक रंगकर्मी ही थे।

यह बात रेखांकित करने वाली लगती है कि दिनेश उस ज़माने और उस पीढ़ी के रंगकर्मी थे, जिसने भारतीय नाट्य परिदृश्य में एक साथ कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण नाटककारों का उदय निकट से देखा-जाना था और उनके लिखे, मंचित किये जा रहे, नाटकों से जो 'आधुनिक रंग-इतिहास' बन रहा था उसके साक्षी ही नहीं, साझीदार बने थे।

दिनेश रंगमंच को समर्पित एक अभिनेता थे। निर्देशक थे। लेखक थे। नाट्य रुपांतरकार थे। रंगकर्म की सभी विधाओं में उनकी गहरी दिलचस्पी थी- मंच सज्जा से लेकर, प्रकाश परिकल्पना, रंगसंगीत, और वेशभूषा तक में। दिनेश को मैं दिल्ली में तब मिला था जब वह सत्रह-अठारह वर्ष के थे और तब से लेकर दिनेश को, रंगकर्म ही ओढ़ते-बिछाते-बरतते हुए देखा है। जब तक वह हमारे बीच रहे, अपने दर्शकों के बीच रहे, सब उन्हें मंच पर पाकर सभागार में अपना होना सार्थक मानने लगते थे। दिनेश ने कभी भी नौकरी नहीं की, जब रहे, जैसे रहे, रंगकर्म और अभिनय को समर्पित रहे। दिनेश दर्शकों को हँसाते-रुलाते थे। गुदगुदाते थे। ग़मगीन कर देते थे। सोचने-विचारने को विवश कर देते थे। पात्रों-चरित्रों की सूक्ष्मताओं की ओर जाते थे।

यह सिरे से ग़लत है कि दिनेश की नज़र सिर्फ़ 'लोकप्रियता' और 'मनोरंजन' पर रहती थी। उन्होंने 'तुग़लक' किया है, 'महाभोज' किया है, 'आत्मकथा' किया है, 'जिस लाहौर नई देख्या..' किया है, और मंच पर उतारी हैं ग्रीक-त्रासदियाँ भी। हाँ, उन्होंने 'हाय मेरा दिल' भी किया है, और किये हैं सचमुच अत्यंत हँसाने-गुदगुदाने वाले अन्य नाटक भी। पर, ये सब तो यही सिद्ध करते हैं न कि दिनेश की रेंज बड़ी थी। निर्देशक के रूप में भी, और अभिनेता के रूप में भी। उन्होंने ऊर्जा से भरे किसी युवा चरित्र का भी अभिनय किया है, और 'आत्मकथा' जैसे नाटक में एक बुज़ुर्ग का भी।

दिनेश का भाषा पर ग़ज़ब का अधिकार था। दिनेश के बारे में कह सकते हैं कि वह उर्दू के संवाद ज़रूरी नुक़्तों के साथ ही बोलते थे। और चाहे बोलचाल वाली हिंदी हो या संस्कृत-निष्ठ, दिनेश के 'उच्चारण' में कभी किसी को कोई दोष नहीं दिखायी पड़ता था। वह गहरे में 'साहित्य' की दुनिया से जुड़े थे, और बहुत पढ़ते थे। स्वयं लेखकों-कवियों से उनके अंतरंग संबंध रहे हैं- फणीश्वरनाथ 'रेणु' से, मोहन राकेश से, विजय तेंदुलकर से, और कृष्णा सोबती, मन्नू भंडारी सहित, कई अन्य लेखकों-कवियों से।

दिनेश केवल मुंबई के, 'पृथ्वी' के ही चहेते नहीं रहे, उन्हें जयपुर, भोपाल, देहरादून, कोलकाता,

बेंगलूर, गुवाहाटी आदि में भी दर्शकों का एक बड़ा समूह मिलता रहा है। उनके नाटक दर्शकों ने प्राय: टिकट खरीद कर ही देखे हैं, क्योंकि 'स्पॉन्सर्ड' प्रस्तुतियों को छोड़कर, दिनेश का आग्रह हमेशा, उचित ही, यह रहा है कि रंगमंच को और रंगकर्मी को खड़ा रखने के लिए, रंगमंच ही उसका 'भुगतान' करे यह ज़रूरी है। और यह 'भुगतान' रंगमंच, दर्शकों के समर्थन से ही तो कर सकता है।

दिनेश ने 'अंक' बनाया और उचित ही उसमें उनके सोच-विचार की, उनकी दृष्टि की, एक 'छाप' और 'छाया' रही है आज भी है। (और जिसे अब रंगकर्मी, और उनकी पत्नी प्रीता माथुर ठाकुर लगन से, सहयोगी रंगकर्मियों के साथ मिलकर, संचालित कर रही हैं) दिनेश ने अपने को 'छायादार' बनाया पर, वह वटवृक्ष कभी नहीं बनाया, जो कुछ और 'उगने' नहीं देता। अपने अनुभव से जानता हूँ कि दिनेश ने बहुतों को सिखाया है। कई युवा रंगकर्मी तैयार किये हैं। जिनमें से कई या कुछ, किसी संकट के समय में, उन्हें छोड़कर चले भी गये हैं, पर, दिनेश ने जिसमें जो प्रतिभा देखी है, उसको उस 'प्रतिभा' के अनुरूप ही, विकसित होने दिया है ज़रूरी मार्गदर्शन देकर। इस सिलसिले में एक अभिनेता का, रंगकर्मी का नाम लेना चाहूँगा- वह है शंकर अय्यर, जिसकी प्रतिभा का मैं भी प्रशंसक हूँ। नाम और भी कई ले सकता हूँ इस संदर्भ में, पर, अभी उसका अवकाश नहीं है।

जिन्होंने दिनेश को 'रिहर्सल्स' के दौरान देखा है वे याद करेंगे कि उनमें वह कई 'भूमिकाओं' में होता था- बड़ा भाई, अभिभावक, डाँटने-डपटने वाला, झल्ला (भी) पड़ने वाला, पर, बहुत धीरज, गरिमामय ढंग से मित्रभाव से, सखाभाव से सीख देने वाला भी। हँसने-हँसाने वाला भी। दिनेश को मंचपार्श्व में भी देखा है, मंच पर भी, अपने और उसके घर पर भी, मित्रों, परिजनों, प्रियजनों के बच्चों के साथ भी (जिनमें छोटे और बड़े बच्चे, दोनों ही शामिल रहे हैं) और पाया है कि वह कैसे सबके साथ घुल-मिल जाता रहा है। दिनेश का 'परिवार' वास्तव में बहुत बड़ा रहा है। कम लोग इस तथ्य की याद करते हैं कि फिल्मों में भी, और रंगकर्म में तो विशेष रूप से, उसके संबंध अखिल भारतीय स्तर के रहे हैं- मराठी भाषी, गुजराती भाषी, बांग्ला भाषी रंगकर्मी हों, या असमिया भाषी रंगकर्मी, उसकी पैठ और पहुँच सबके बीच रही है। शंभु मित्र हों, रुद्रप्रसाद सेनगुप्त हों, डॉ. श्रीराम लागू हों, अल्काज़ी साहब हों, ओम शिवपुरी-सुधा शिवपुरी हों, बासु भट्टाचार्य हों, या मलयाली भाषी ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता, लेखक और फिल्मकार एम.टी। वासुदेवन नायर हों, ब.व. कारंत हों, दिनेश न जाने कितने कृति व्यक्तित्वों के आत्मीय घेरे में रहे हैं।

दिनेश ने शंभु मित्र की तरह आवाज़ को, उच्चारण को, उच्चरित शब्द की भंगिमा को, स्वर और सुर की सांकेतिकता को, बहुत अच्छी तरह पहचाना था- और उचित ही अभिनय में स्वर और सुर दोनों को ही प्राथमिकता दी थी। आज दिनेश के सोचे, किये और लिखे की याद हर तरह से ज़रूरी है, क्योंकि उसमें अंतर्निहित है, आधुनिक रंगमंच का रचनात्मक, और क्रियाशील आत्मसंघर्ष!

यह बात भी रेखांकित करने वाली लगती है कि दिनेश उस ज़माने और उस पीढ़ी के रंगकर्मी थे, जिसने भारतीय नाट्य परिदृश्य में एक साथ कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण नाटककारों का उदय निकट से देखा-जाना था और उनके लिखे, मंचित किये जा रहे, नाटकों से जो 'आधुनिक रंग- इतिहास' बन रहा था उसके साक्षी ही नहीं, साझीदार बने थे। मोहन राकेश, गिरीश कारनाड, विजय तेंदुलकर, बादल सरकार, धर्मवीर भारती-सभी से तो दिनेश किसी न किसी रूप में जुड़े। और विजय तेंदुलकर के तो प्राय: सभी नाटक उन्होंने मंचित किये। इस दृष्टि से देखें तो दिनेश उन कुछ रंगकर्मियों में से ठहरेंगे जो आधुनिक समकालीन भारतीय नाट्य के इस उज्ज्वल परिदृश्य का एक अभिन्न अंग बने थे।

दिनेश दूसरों की प्रशंसा में मगन रहने वाले भी थे, बशर्ते किसी ने कुछ ऐसा किया हो, जो उन्हें भा गया हो। फिर वह चाहे उनके किसी विरोधी का ही क्यों न हो। युवा नाटककारों, रंगकर्मियों पर उनकी एक विशेष नज़र रहती थी। मराठी के अतुल पेठे हों, या हिंदी के मानव कौल, इनके आरंभिक दिनों से ही वह इनके प्रशंसक रहे थे, और ऐसे ही कई लोगों का नाम स्वयं मैंने दिनेश से ही पहली बार सुना था।

ये फिल्में यह सच है कि 'रजनीगंधा' और 'अनुभव' जैसी फिल्मों से दिनेश घर-घर जाने गये। जब वे किसी टी.वी. चैनल पर प्रदर्शित होती हैं, दिनेश के अभिनय को आज भी खूब सराहा जाता है। पर, इसमें भला क्या संदेह कि स्वयं रंगमंच पर अपने अभिनय और निर्देशन से भी वह अपने लिए एक आदर-मान-प्रेम और लगाव बटोर सके हैं। उसकी दमदार, जानदार, गहरी खरी आवाज़ बहुतों के मन में आज भी गूँजती है। दिनेश ने आकंठ रंगकर्म को जिया है दिन-प्रतिदिन। उसके सभी तरह के घूँट भरे हैं, कड़वे-मीठे, तिक्त, लेकिन अंतत: वह अपने अभिनय, लेखन और निर्देशन से, कुछ ऐसा कर और छोड़ गये हैं, जो ऊर्जावान है, खरा है, सुंदर है, सार्थक है, और जिसकी स्मृति-ऊर्जा से युवतर पीढ़ियाँ यह तो सीख ही सकती हैं कि जिस माध्यम में काम कर रहे हों, उसके प्रति कैसी समर्पण-भावना चाहिए होती है। दिनेश ने शंभु मित्र की तरह आवाज़ को, उच्चारण को, उच्चरित शब्द की भंगिमा को, स्वर और सुर की सांकेतिकता को, बहुत अच्छी तरह पहचाना था- और उचित ही अभिनय में स्वर और सुर दोनों को ही प्राथमिकता दी थी। आज दिनेश के सोचे, किये और लिखे की याद हर तरह से ज़रूरी है, क्योंकि उसमें अंतर्निहित है, आधुनिक रंगमंच का रचनात्मक, और क्रियाशील आत्मसंघर्ष!

धर्म, कर्म, शौक और व्यवसाय

देवेन्द्रराज अंकुर

प्राचीन ग्रीक नाटक प्रायः एक अंक के हुआ करते थे और एक अंक में मात्र एक दिन यानी चौबीस घण्टे की कथा-कहानी का समावेश किया जाता था। इसके समानान्तर हमारे यहाँ एक अंक से लेकर दस अंकों वाले नाटकों की परंपरा मिलती है। यह सही है कि यहाँ भी एक अंक में एक दिन की घटनाओं को उपस्थित किया जाता था लेकिन उनके बीच के समय में कुछ भी अन्तर हो सकता था। यहाँ तक कि यदि किसी अंक में एकाधिक दृश्य हैं तो उनके बीच भी समय की कोई सीमा निश्चित नहीं की गई है। लेकिन जिस अंक की हम चर्चा करने जा रहे हैं, वह इन सबसे अलग है। कहने को वह अपने नाम में केवल एक शब्द है, लेकिन अगर गहराई से छानबीन की जाए तो उसकी अनगिनत परिभाषाएँ दी जा सकती हैं।

सबसे पहली तो यही है कि अपने शीर्षक में अंक होते हुए भी वह एक सम्पूर्ण नाटक है। दूसरे वह कम-से-कम तीन अंकों वाला नाटक है और हर अंक पूरे एक दशक के समय को अपने में समेटे हुए है। तीसरा और आखिरी सत्य यह है कि एक दशक में सिर्फ एक कहानी नहीं वरन् न जाने कितनी कहानियाँ और नाटक एक साथ घटित होते हैं। अपने इस रूप में यह अंक संस्कृत के शास्त्रीय नाटकों की याद दिलाता है और आज के समय से कोई उदाहरण लेना चाहें तो ठीक हिन्दी फिल्मों की तरह, जिनमें बहुत-सी कहानियाँ एक साथ चलती रहती हैं और अन्त में जाकर मुख्य कथा में शामिल हो जाती हैं।

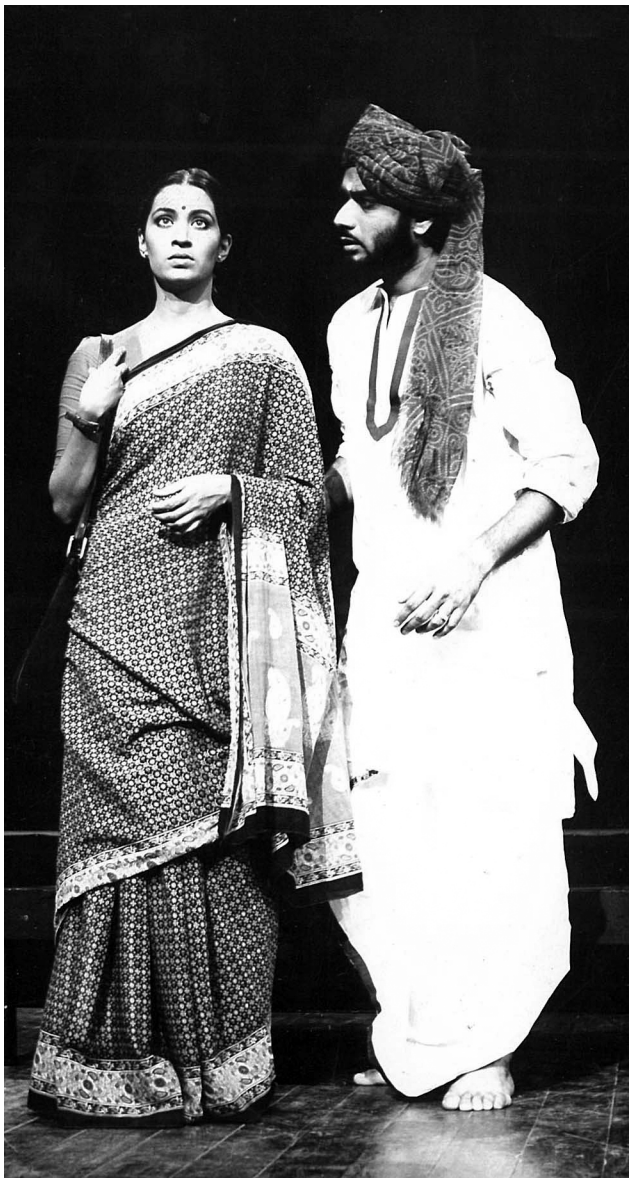

जी हाँ, जिस अंक की हम चर्चा कर रहे हैं, वह है मुम्बई नगरी की नाट्य-मण्डली 'अंक' जिसे दिनेश ठाकुर ने पहली अक्टूबर, 1976 को स्थापित किया था। आठवें दशक की शुरुआत में दिल्ली से मुम्बई पहुँचे दिनेश अपने शुरुआती वर्षों में हिन्दी सिनेमा में समानान्तर लहर के 'सुपरस्टार' भी रहे, लेकिन अन्त में वह अपने पहले प्यार को ही पूरी तरह समर्पित हो गए और वह था नाटक और रंगमंच, और उसी का प्रतिमान है उनकी अंक नाट्य-मण्डली।

मैंने अंक के कथ्य की संरचना की तुलना एक फ़िल्म से की है तो इसे महज़ संयोग न मान लिया जाए। स्वयं दिनेश फ़िल्मों से जुड़े रहे हैं। नाट्य-मण्डली अंक किसी हिन्दी प्रदेश में नहीं, एक अहिन्दी प्रदेश और वह भी फ़िल्मों की नगरी मुम्बई में कार्यरत है। सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि ऐसे परिवेश में एक हिन्दी नाट्य-मण्डली को अलग से अपनी पहचान बनाने के लिए कितना जूझना पड़ा होगा और यदि मण्डली ने अपने अस्तित्व के तीस साल पूरे कर लिए हैं तो निश्चय ही उसकी जिजीविषा की प्रशंसा की जानी चाहिए। इतना ही नहीं, ये तीस साल लगभग हर दिन पूर्वाभ्यास के भी रहे हैं और कुल मिलाकर आज तक 73 नाटकों के 6400 के लगभग प्रदर्शनों का रिकॉर्ड। मुझे नहीं लगता कि आज कोई भी नाट्य-मण्डली इन आँकड़ों का मुकाबला कर सकती है। अपने स्वरूप में लगभग शौकिया, अर्द्ध-व्यावसायिक अथवा ग़ैर-व्यवसायिक होते हुए भी इतनी निरन्तरता के साथ प्रदर्शन-दर-प्रदर्शन करते चले जाना, हर किसी के बूते की बात नहीं।

तीस सालों का इतिहास जहाँ एक-एक दशक की अवधि से जुड़ा है, वहीं अपनी प्रकृति में भी एक-दूसरे से बिल्कुल अलग है। पहला दशक आरम्भ अथवा प्रयोगशील काल है, तो दूसरा दशक मण्डली के स्थायित्व और चरमोत्कर्ष से जुड़ा है और तीसरे दशक को कुछ-कुछ उपसंहार की संज्ञा दी जा सकती है। व्यक्तिगत स्तर पर मुझे 'बाक़ी इतिहास', 'अंजी', 'आत्मकथा', 'कन्यादान', 'हम दोनों', 'जिस लाहौर नहिं देख्या' और 'बीवियों का मदरसा' अंक के सात नाटक देखने को मिले हैं, 'चाबी' का पूर्वाभ्यास और 'टोपी शुक्ला' के कुछ शुरुआती नाट्य-पाठ,

'मोहन राकेश का परिवेश : पत्रों में' की पाठ-प्रस्तुति और अंक के अभिनेताओं के साथ दो कहानियों की मंचप्रस्तुति का अन्तरंग अनुभव भी सम्मिलित है। मैं समझता हूँ कि इन सबसे गुज़रकर मण्डली के व्यक्तित्व और कृतित्व की एक मुकम्मल तस्वीर प्रस्तुत की जा सकती है।

इसमें दो राय नहीं है कि मण्डली की बैकबोन या जगदीशचन्द्र माथुर के शब्दों में कहें तो 'रीढ़ की हड्डी' स्वयं दिनेश ठाकुर और उनकी पत्नी प्रीता माथुर ठाकुर हैं। दोनों ही कुशल अभिनेता होने के साथ-साथ उससे भी ज़्यादा नेपथ्यकर्मी हैं। यह अलग बात है कि इधर कई सालों से दिनेश की आवाज़ उनका साथ छोड़ने लगी है और अगर वह सिर्फ़ निर्देशन पर ध्यान केन्द्रित करें तो उनकी प्रस्तुतियों का स्तर और भी निखर कर सामने आएगा। लेकिन जैसी कि कहावत है कि 'वन्स अ बैचलर आलवैज़ अ बैचलर', दिनेश ठाकुर अभिनय के मोह से स्वयं को मुक्त नहीं कर पाते। दूसरी तरफ़ उनकी अपनी बात में भी वजन है कि यदि वह स्वयं भी अभिनय करना छोड़ देंगे तो दर्शकों के लिए प्रस्तुति में देखने को बचेगा ही क्या। इसीलिए यह महज़ संयोग नहीं है कि उनकी वही प्रस्तुतियाँ ज़्यादा सफल रही हैं जिनमें कम-से-कम पात्र हों। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके बाकी अभिनेता कमज़ोर हैं। ज़ाहिर है कि उनके पास उपलब्ध युवा और अधेड़ अभिनेताओं की टीम भी उतनी ही सक्षम है या कि अंक में वे लगातार काम करते-करते सक्षम हो गए हैं। फिर भी मुम्बई में रहने वाले हर अभिनेता की भागदौड़ इतने विकल्पों, दुविधाओं और ऊहापोह से भरी रहती है कि कब, कौन, किस काम में व्यस्त हो जाए, कुछ कहा नहीं जा सकता। इस सबके बावजूद लगातार तीस वर्षों तक हर रोज पूर्वाभ्यास, और हर तीसरे दिन एक प्रदर्शन, यह किसी भी दूसरी नाट्य-मण्डली के लिए ईर्ष्या का विषय हो सकता है।

यहाँ इस बात का खुलासा करना भी आवश्यक है कि ज़रूरी नहीं कि उनके सभी नाटकों ने सफलता की ऊँचाइयाँ हासिल की हों। निश्चित रूप से कुछ प्रस्तुतियाँ असफल भी रही हैं और यह स्वाभाविक भी है। हम किस बड़े रचनाकार का नाम ले सकते हैं जिसकी सभी रचनाएँ एक ही स्तर की कही जा सकती हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि अंक दिनेश ठाकुर के लिए एक धर्म, कर्म, शौक और व्यवसाय की तरह से है जिस पर वह पूरी तरह से निर्भर हैं। यह भी सही है कि जीवनयापन की इस लड़ाई में वह अकेले नहीं हैं। उनके साथ अभिनेताओं की एक पूरी टीम भी मौजूद है। आलोचक कह सकते हैं कि ऐसी स्थितियाँ कमोबेश हर नाट्य-मण्डली के साथ हैं, लेकिन दूसरी तरफ़ क्या हम यह स्वीकार करने की स्थिति में हैं कि दूसरी मण्डलियों ने भी इतना काम किया है? मैं तो यहाँ तक कहूँगा कि अंक की इस गतिशीलता के पीछे दिनेश ठाकुर से भी ज़्यादा उनकी पत्नी प्रीता का हाथ है जो एक बड़े संस्थान में सुबह से शाम तक एक ज़िम्मेदारी के ओहदे पर काम करती हैं, शाम को ठीक वक़्त पर रिहर्सल में पहुँच जाती हैं, और देश के किसी भी हिस्से में होने वाले प्रदर्शनों के लिए उपलब्ध रहती हैं।

अंक के 30 वर्षों में से कम-से-कम 28 वर्षों का तो मैं भी साक्षी रहा हूँ। मुझे पहली बार अंक की एक प्रस्तुति 'बाक़ी इतिहास' को लखनऊ में 1978 में देखने का अवसर मिला था। इसके बाद बहुत दिनों तक मेरी दिनेश ठाकुर से कोई लम्बी मुलाकात नहीं हो पाई। जब भी मिला, भागते-दौड़ते ही मिला, जबकि सच्चाई यह है कि हम दोनों ने हिन्दी साहित्य में एम.ए. की पढ़ाई साथ-साथ की थी। लेकिन जब से राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में 'भारत रंग महोत्सव' के आयोजन की शुरुआत हुई, तब से दिनेश ठाकुर की 8-10 प्रस्तुतियों को देखने के अनुभव से गुज़रा हूँ जिनका उल्लेख मैंने पहले किया है। इस छोटी-सी सूची से भी यह अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है कि नाटकों के चुनाव का चयन कितना विशाल और व्यापक है। यदि एक तरफ 'बाक़ी इतिहास' जैसा गम्भीर, प्रयोगशील, यथार्थवादी नाटक है तो दूरी तरफ़ 'अंजी'जैसा सहज और हर तरह की लोकप्रिय युक्तियों और सम्भावनाओं से भरपूर नाटक। ये दोनों छोर इस तथ्य को बड़ी शिद्दत से रेखांकित करते हैं कि अंक ने कभी भी अपने-आप को किसी एक खास शैली, फॉर्मूले या व्याकरण में नहीं बाँधा और शायद इसीलिए उसके काम में अभी भी कुछ हद तक ताज़गी बची हुई है, नहीं तो इतिहास गवाह है कि जब-जब किसी भी नाट्य-मण्डली ने अपने-आप को किसी एक रंगशैली तक सीमित कर लिया तो वह बहुत दिनों तक सक्रिय नहीं रह पाई। अंक स्वयं को एक अपवाद बनाए रखेगा- यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। लेकिन एक सवाल फिर भी पूछा जाना चाहिए कि तीस साल की उम्र के बाद अंक ने अपने भविष्य के बारे में क्या सोचा है? सब-कुछ यूँ ही चलता रहेगा या उसने अगले दशक के लिए किसी नई पगडण्डी पर चलने का मन बनाया है? देखा जाए तो हर संस्थान को पाँच-दस साल के बाद अपने भीतर बदलाव की ज़रूरत महसूस होने लगती है? संस्थान ही क्यों, व्यक्ति, समाज और देश के लिए भी यह इतना ही अनिवार्य है। इतना ही नहीं, दस वर्ष के अन्तराल में एक नई पीढ़ी तैयार हो जाती है। अंक से भी यही अपेक्षा है कि वह अपनी युवा मण्डली के लिए एक निश्चित ज़मीन तैयार करे और एक दूरगामी-अग्रगामी दिशा की तरफ़ क़दम बढ़ाए।

वर्तमान समय में समाज में छाए अँधेरे, घटाटोप और ऊबड़-खाबड़ हालात के बावजूद मुझे अंक जैसी नाट्य-मण्डली का सबसे उज्जवल पक्ष तब दिखाई पड़ता है, जब नाटक के अन्त में मण्डली के अभिनेता-निर्देशक दिनेश ठाकुर दर्शकों से सीधे संवाद स्थापित करते हैं और इस तरह की विपरीत स्थितियों-परिस्थितियों के बीच नाटक और रंगमंच को जीवन्त बनाए रखने की अपील व अपेक्षा करते हैं।

बहुत-सा इतिहास रचना बाक़ी

विश्वनाथ सचदेव

इतिहास रचने का जो सलसिला शुरू हुआ, वह आज तक जारी है। यह यात्रा रंगकर्मी दिनेश ठाकुर के नाट्यमंच अंक की है जो आज फिर एक नये सोपान पर है। तीन दशक से ज्यादा साल किसी संस्था के जीवन में कम नहीं होते, और दिनेश इस दौरान यह साबित कर सके हैं कि निष्ठा, प्रतिबद्धता और उत्साह रंगकर्म को किन ऊँचाइयों पर ले जा सकते हैं। अंक के माध्यम से उन्होंने रंगकर्म के सन्दर्भ में अपनी और अपने साथियों की प्रतिभा का परिचय तो दिया है, यह भी रेखांकित करने में सफल रहे हैं कि प्रतिभा की ऊर्जा को जीवित और जीवन्त रखना आसान भले ही न हो, असम्भव कतई नहीं है।

अंक के माध्यम से दिनेश ठाकुर ने मुम्बई और देश के हिन्दी रंगमंच को एक विशिष्ट पहचान दी है। अंक की अनवरत यात्रा की उपलब्धियों का श्रेय निश्चित रूप से अंक से जुड़े, समय-समय पर जुड़ते रहे कलाकारों को जाता है, लेकिन यह भी निर्विवाद है कि दिनेश ठाकुर न केवल लगातार अंक की धुरी बने रहे हैं, बल्कि अंक की जय-यात्रा को लगातार दिशा भी देते रहे हैं। धुरी बना रहना महत्वपूर्ण है, लेकिन दिशा देने का काम कहीं अधिक महत्वपूर्ण है। दिशा देने का अर्थ लक्ष्यों और शिखरों की पहचान कराना ही नहीं होता, उन तक पहुँचने की मुहिम को गति और सार्थकता देना भी होता है। मैंने अपने दोस्त दिनेश को इस काम में अपना सब-कुछ झोंकते हुए देखा है। सफलता के लिए अपनी पूरी ताकत के साथ संघर्ष करते हुए देखा है। मुझे विश्वास है कि यह संघर्ष कभी खत्म नहीं होगा-सार्थक बदलाव की ताकतों को मज़बूत बनाने का कोई संघर्ष कभी खत्म होता भी नहीं। होना भी नहीं चाहिए।

दिनेश को मैंने अपना दोस्त कहा है। स्वाभाविक है, उनके प्रति मेरे मन में कोई 'सॉफ्ट कार्नर'; होगा। उसके चलते यह भी स्वाभाविक है कि दिनेश एवं उनके काम का आकलन करने में सम्बन्धों की ऊष्मा नीर-क्षीर-विवेक को कहीं प्रभावित कर जाए, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मैं जो कुछ कह रहा हूँ, या कहूँगा, वह सच नहीं है। और सच यह है कि दिनेश एक अच्छे दोस्त हैं। एक अच्छे कलाकार हैं। एक अच्छे रंगकर्मी हैं और एक अच्छी संस्था-अंक को चलाने, उसे ज़िन्दा रखने का श्रेय उन्हें जाता है।

यह तो ठीक से याद नहीं कि दिनेश ठाकुर से मेरी दोस्ती कब हुई थी, लेकिन यह अच्छी तरह याद है कि जब भी हुई थी, उस दिन, सारी बातचीत रंगकर्म के आस-पास घूमती रही थी। दिनेश अपने नाटकों की बात कर रहे थे, अंक की बात कर रहे थे और मुझे समझाना चाह रहे थे कि नाटक खेलना तलवार की धार पर चलना होता है; कि अंक जैसी किसी संस्था को चलाना तमाम कठिनाइयों के बावजूद ज़रूरी है; कि हिन्दी रंगमंच का दुर्भाग्य है कि उसे अपने दर्शकों का वैसा सहयोग नहीं मिलता, जैसा मराठी अथवा बांग्ला के नाटकों को मिलता है। तब से लेकर आज तक ये तीनों बातें हमारी सारी बातचीत का एक स्थायी भाव बनी रही हैं। इन सन्दर्भों में निराशा और आक्रोश बार-बार झलके हैं दिनेश की बातों में, लेकिन लगभग बीस-पच्चीस साल के इस साथ में मैंने दिनेश को हथियार डालते कभी नहीं देखा। उलटे हुआ यह कि ज्यों-ज्यों दिक्कतें बढ़ती गईं, संघर्ष और सफलता के लिए दिनेश की ज़िद भी लगातार बढ़ती गई। संघर्ष भी जारी है और ज़िद भी बरकरार है। राही मासूम रज़ा के एक उपन्यास पर आधारित उनका अब तक का नवीनतम नाटक 'टोपी शुक्ला' इस बात का उदाहरण है कि अंक की इस लम्बी संघर्ष यात्रा में न दिनेश के जज़्बे में कोई कमी आई है और न ही रंगकर्म की महत्ता और ताकत में उनका विश्वास कुछ कम हुआ है। रंगकर्म उनके लिए एक तपस्या है। यह सही है कि तपस्वी को तप का लाभ मिलता है- सच तो यह है कि निजी लाभ के लिए ही कोई तपस्वी तप करता है। लेकिन यह भी सही है कि उसकी उपलब्धियों का लाभ तपस्वी तक ही सीमित नहीं रहता-बँट जाता है उसके आस-पास में। रंगकर्म भी ऐसी ही एक तपस्या है। रंगकर्मी को नाटक ज़रूरी लगता है, और उसे सुख भी मिलता है नाटक खेलने में लेकिन इस सुख में दर्शकों के हित की साझेदारी होती है। उनका हित समाया होता है। मनोरंजन करना एक उद्देश्य है नाटक का, लेकिन एकमात्र उद्देश्य नहीं। दिनेश ठाकुर नाट्यकर्मियों की उस परम्परा में आते हैं, जो नाटक को सामाजिक हितों को साधने का एक माध्यम मानती है। अंक के माध्यम से दिनेश अपने

सहयोगियों के साथ उन्हीं सामाजिक हितों को परिभाषित करने, उन्हें साधने में लगे हैं। अंक की सबसे बड़ी सफलता यह है कि अपने नाटकों के माध्यम से वह यह रेखांकित करने में सफल रहा है कि नाटक सामाजिक सोच को प्रभावित करने और उसे दिशा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। ऐसा नहीं है कि हल्के-फुल्के नाटक नहीं खेले अंक ने। लेकिन अंक ने यह भी दिखाया-समझाया कि मनोरंजन का मतलब फूहड़ता नहीं होता कि हर नाटक के पीछे कहीं-न-कहीं सामाजिक सरोकारों से जुड़े रहने की एक ललक होनी चाहिए।

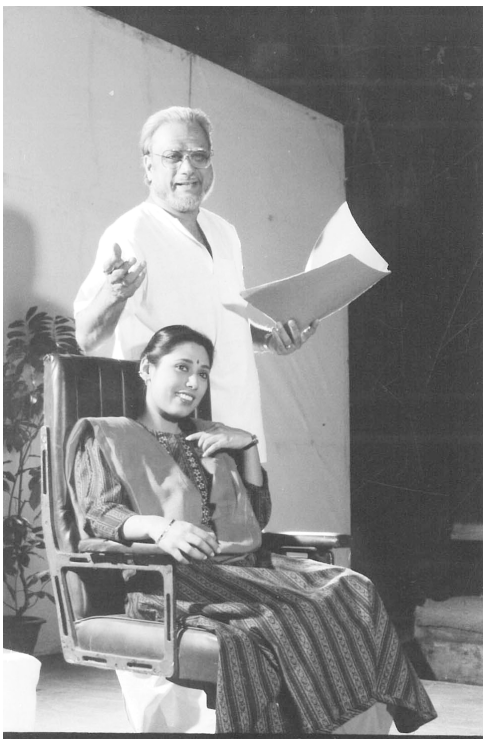

सच तो यह है कि बाकी किसी भी सृजनात्मक विधा की तरह ही नाटक भी व्यापक हितों से जुड़कर ही पूर्णता पाता है। कोई भी ज़िम्मेदार रंगकर्मी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकता कि वह जो कुछ मंच पर दिखा रहा है, देखने वाले की सोच पर उसका असर पड़ता है या नहीं। यह तथ्य रंगकर्म के महत्व को भी दर्शाता है और उसे व्यापक दायित्वों से जोड़ता है। रंगकर्म की इस भूमिका को समझने के बाद ही यह बात समझ में आ सकती है कि मंच पर जो कुछ दिखाया जाता है अथवा जो कुछ नहीं दिखाया जाता, दर्शक पर उसका प्रभाव पड़ता है। यही सोच नाटककार को एक उद्देश्य देती है, एक प्रतिबद्धता प्रदान करती है। 'कला कला के लिए' का सिद्धान्त या सोच अपनी जगह सही हो सकती है, लेकिन ऐसा सीमित अर्थों में ही सम्भव है। कला परवान तब चढ़ती है जब वह समाज के लिए हो। यही कला का वृहत्तर उद्देश्य है। यही कला की सच्ची सार्थकता है। जहाँ तक रंगकर्म का सवाल है, उस पर यह बात कहीं अधिक गहराई से लागू होती है क्योंकि यहाँ सीधा सम्प्रेषण होता है। मंच पर जो कुछ दिखाया जाता है, दर्शक उससे सीधा जुड़ता है। इसलिए ज़रूरी है, जो कुछ दिखाया जाए वह दर्शक के व्यापक हितों को साधने वाला हो। यदि नाटककार का उद्देश्य मनोरंजन करना है, तो ज़रूरी है, वह स्वस्थ मनोरंजन हो और यदि नाटककार कोई बात पहुँचाना चाहता है, कोई सवाल उछालना चाहता है, तो ज़रूरी है उसके पीछे सार्थक सोच हो, सामाजिक हित की भावना हो। जहाँ तक मैं समझता हूँ, अंक के सभी कलाकार और अंक के निर्देशक दिनेश ठाकुर इस बात को पूरी शिद्दत के साथ महसूस करते हैं और पूरी ईमानदारी के साथ अपनी सोच को परिभाषित करने, विभिन्न वर्गों तक पहुँचाने में लगे हुए हैं। यह काम अपने-आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

और महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि तीस साल की इस रंग-यात्रा में दिनेश ठाकुर और अंक के उनके सहयोगी न तो अपनी उपलब्धियों से सन्तुष्ट हुए हैं और न ही रास्ते की कठिनाइयों से थक कर निराश हुए हैं। निराश की जगह पराजित शब्द ज़्यादा उपयुक्त है यहाँ। थके तो हैं कई बार दिनेश, पर हर थकान के बाद नये जोश से उठे हैं। कई बार झुँझलाकर अपने-आप को कोसा भी है उन्होंने। झुँझलाहट इस बात की नहीं कि जो वे करना चाहते हैं, नहीं कर पाए। उन्हें झुँझलाहट इस बात से होती है कि दर्शक उनकी बात को समझना क्यों नहीं चाहते। और झुँझलाहट इस बात से भी होती है कि रंगकर्म के प्रति लोग उतने गम्भीर क्यों नहीं हैं, जितना उन्हें होना चाहिए! वैसे, मैं जानता हूँ कि दिनेश झुँझलाहट वाली मेरी बात से सहमत नहीं होंगे। वे यही कहेंगे, ज़रूर हम में कोई कमी रह गयी है। यह सोच अपने-आप में ग़लत नहीं है, लेकिन यह भी सही है कि रंगकर्म के प्रति हिन्दी-समाज उतना गम्भीर नहीं है, जितना उसे होना चाहिए। दिनेश समेत मुम्बई के अधिकतर रंगकर्मी इस बात से इनकार नहीं कर पाएँगे कि दर्शकों का वैसा प्रतिसाद हिन्दी रंगमंच को नहीं मिलता, जैसा मिलना चाहिए। मैं जानता हूँ, दिनेश अक्सर इस बारे में सोचते रहते हैं। परेशान भी होते हैं जब थिएटर में सामने ढेर-सारी खाली कुर्सियों की आत्माओं से संवाद करना पड़ता है। लेकिन यह एक अच्छी बात है कि वे इसमें कभी हारे नहीं। मैं कहना चाहता हूँ, दिनेश! आप कभी हारोगे भी नहीं। आपकी ज़िद आपको ज़िन्दा रखेगी। रंगमंच के प्रति आपकी आत्मा और प्रतिबद्धता आपको कभी हारने नहीं देगी। अंक को अभी बहुत-सारे अंक लिखने हैं। अभी बहुत-सारा इतिहास रचना बाकी है। चरैवेति, चरैवेति।

दिनेश ठाकुर मेरा दोस्त बेहद प्यारा, न्यारा और पागल। यारों का यार। दिमाग़ की जगह दिल से सोचने वाला बेहद भावुक और हरदिल अज़ीज़। मुहब्बत ने जिसके दिल में और किसी चीज़ के लिए जगह ही नहीं छोड़ी, जिसके लिए थिएटर जीने का पर्याय रहा। सिर से पाँव तक अभिनय ही अभिनय। एक बेसब्री, तड़प, लगन और अपने दर्शकों का दिल जीत लेने की बेपनाह चाहत और शिद्दत। ज़िन्दगी का सिर्फ़ एक मकसद-हर वक्त-हर हालत में-'शो मस्ट गो ऑन। देश-भर में अकेला और अनूठा रंगकर्मी मेरा यह दोस्त।

दीनू तुझे सलाम...

जयदेव तनेजा

स्कूल, कॉलेज, रेडियो, टी.वी., 'यात्रिक', 'हिन्दुस्तानी थिएटर', 'यूथ ऑफ़ इण्डिया', 'संवाद' के साथ नाटक करते-करते यह बच्चा जवान हो गया। 'दिशान्तर' के पहले नाट्य-प्रदर्शन 'गणदेवता' से जुड़ा तो ओम-सुधा शिवपुरी का यह लाड़ला दीनू 'आधे अधूरे' के अशोक के कुण्ठित-क्रुद्ध युवक के रूप में समकालीन दिल्ली रंगमंच का नया सितारा दिनेश ठाकुर बन गया। 'आधे अधूरे' के फ़िल्मांकन के लिए 'दिशान्तर' के साथ पूना-मुम्बई जा पहुँचा। वह फ़िल्म तो आधी-अधूरी रह गई लेकिन उत्साही, संवेदनशील और अपरिमित सम्भावनाओं से भरपूर, प्रतिभावान युवा अभिनेता दिनेश ठाकुर बासु भट्टाचार्य, बासु चटर्जी, गुलज़ार जैसे प्रबुद्ध निर्देशकों को भा गया। इनकी फ़िल्मों के अलावा इसे रामानन्द सागर, शक्ति सामन्त, बी.आर. चोपड़ा, समीर गांगुली, कान्तिलाल राठौड़, सुभाष घई, ख़ालिद मुहम्मद, वासुदेवन नायर जैसे सुप्रसिद्ध एवं श्रेष्ठ फ़िल्म निर्देशकों ने भी धीरे-धीरे अपनी फ़िल्मों में विविध भूमिकाएँ दीं। दिनेश देश-भर के दर्शकों का प्रिय, परिचित और लोकप्रिय अभिनेता बन गया। परन्तु रंगमंच पर तत्काल और प्रत्यक्ष दर्शकों की प्रतिक्रियाओं, तालियों और तारीफ़ों के नशे में डूबे दिनेश को रंगकर्म के बिना चैन कहाँ? फ़िल्म-अभिनय में पैसा, पहचान और प्रशंसा तो खूब थी, लेकिन जीवन्त अभिनय का थ्रिल और आत्मसन्तोष नहीं था।

इन्हीं परिस्थितियों में दिनेश ठाकुर ने 1976 में अंक नामक अपने नाट्य-दल की स्थापना की। बादल सरकार गम्भीर, अर्थपूर्ण और बुद्धिजीवी दर्शकों-रंगकर्मियों के बीच चर्चित हो चुके नाटक 'बाक़ी इतिहास' को अपनी प्रथम प्रस्तुति के रूप में प्रदर्शित किया। दिनेश और इनकी पत्नी मीनाक्षी ठाकुर की जोड़ी केन्द्रीय भूमिकाओं में थी। 'पूत के पाँव पालने में' ही दीख गए। संघर्ष आसान नहीं था। लेकिन दिनेश ठाकुर के दृढ़ संकल्प, हौसले, अटूट विश्वास तथा दर्शकों के प्यार के बलबूते अंक कदम-दर-कदम लगातार आगे बढ़ता गया और अब अक्टूबर, 2006 में वह अपनी तीसवीं सालगिरह मना रहा है।

बरसों-बरस मैंने उसके नाटक देखे हैं। मैं उसकी सम्यक् रंग-दृष्टि का कायल और हरदिल अज़ीज़ रंग-सृष्टि का मुरीद भी हूँ। इसलिए दिनेश ठाकुर और अंक के बारे में मैं कुछ भी कहने के ना-क़ाबिल हूँ, ना-लायक़ हूँ। दोस्त होने के नाते मैं अगर उसकी तारीफ़ करूँगा-जो बिलकुल मुनासिब और जायज़ है- तो आप विश्वास नहीं करेंगे और मैं अगर उसकी कमियों-कमज़ोरियों की चर्चा करूँगा तो मुझे कतई अच्छा नहीं लगेगा। इसलिए बेहतर यही होगा कि मैं लगभग तटस्थ भाव से कुछ महत्वपूर्ण तथ्य आपके सामने रख दूँ और दिनेश-अंक की सफलता-असफलता तथा उपलब्धियों-अनुपलब्धियों का निर्णय आप पर छोड़ दूँ। लेनिन ने ठीक ही कहा था कि 'तथ्य क्रान्तिकारी होते हैं, उन्हें पेश करना ही पर्याप्त है।'

-अंक हिन्दी रंग-परिदृश्य की ऐसी विरल नाट्य-संस्था है जिसने मुख्यतः दर्शकों के बल पर लगातार सक्रिय रंगकर्म के तीस से भी ज्यादा साल पूरे किए हैं और अब भी सक्रिय हैं। इन बीते वर्षों में अंक ने 'बाक़ी इतिहास' (1976) से 'टोपी शुक्ला' (2006) तक 73 नाट्य-प्रस्तुतियाँ की हैं और 'मित्र' नामक ७४वीं प्रस्तुति लगभग तैयार है। अंक ने 2005 तक अपनी 72 नाट्य-प्रस्तुतियों के 6,500 से भी अधिक प्रदर्शन देश-भर में कर लिए थे। इसके मुक़ाबले पृथ्वीराज कपूर जैसे फ़िल्म और रंगमंच के अत्यन्त लोकप्रिय और स्टार-अभिनेता के ऐतिहासिक महत्व का 'पृथ्वी थिएटर' केवल सोलह वर्ष तक ही चल पाया। इसने अपने जीवनकाल में केवल सात नाट्य-प्रस्तुतियाँ कीं, जिनके कुल 2662 प्रदर्शन किए गए।

अंक की 18 नाट्य-प्रस्तुतियाँ ऐसी हैं जिनके 100 से लेकर 1000 तक शो हो चुके हैं। 'हाय मेरा दिल' के अधिकतम 1017 प्रदर्शन किए गए। इसके मुकाबले 'पृथ्वी थिएटर' ने अपने सर्वाधिक सफल नाटक 'दीवार' के कुल 712 प्रदर्शन किए थे। इसके सन्दर्भ में एक विस्मयकारी और दिलचस्प तथ्य यह भी है कि पूरी तरह सरकारी पैसे से चलने वाले और 'नेशनल थिएटर' कहे जाने वाले राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमण्डल का इस दृष्टि से सर्वाधिक सफल नाटक 'मुख्यमन्त्री' है जिसके 85 प्रदर्शन हुए। इसी के साथ एक अविश्वसनीय किन्तु प्रामाणिक तथ्य यह भी है कि 1978 से 2003 के पच्चीस वर्षों में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमण्डल ने देश-भर के प्रतिष्ठित एवं श्रेष्ठ नाट्य-निर्देशकों के साथ 21 ऐसी प्रस्तुतियाँ कीं जिनके कुल-मिलाकर केवल 108 प्रदर्शन ही हो सके। अंक के इन प्रदर्शन-आँकड़ों की तुलना (सम्भवतः) देश के किसी भी हिन्दी नाट्यदल के प्रदर्शनों से

नहीं की जा सकती। 'नया थिएटर' के, अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित-पुरस्कृत और देश-भर में अभिमंचित-प्रशंसित सफलतम नाटक 'चरणदास चोर' के प्रदर्शनों का आँकड़ा भी अब तक (शायद) 650 तक नहीं पहुँच पाया है। सामान्यतः हिन्दी नाट्य-प्रस्तुतियों का औसत प्रदर्शन तो एक से दस तक ही पहुँचता है। किसी नाटक के पचास शो हो जाना तो एक बड़ी उपलब्धि मानी जाती है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि दिल्ली में सौ प्रदर्शनों तक पहुँचने या इस आँकड़े को पार करने वाली नाट्य-प्रस्तुतियों में थ्री आर्ट्स क्लब के सोद्देश्य हास्य-नाटकों के बाद लगभग तीन दशक तक दिल्ली के सर्वाधिक लोकप्रिय नाट्यदल थ्री आर्ट क्लब ने नाट्यदल बन्द होने से एकाध साल पहले तक (1979) 'अण्डर सेक्रेटरी' के 122, 'हमारा गाँव' के 105 अधिकतम शो किए। इसने कुल मिलाकर अपने सभी नाटकों के केवल 1176 प्रदर्शन किए थे। कुछ अति लोकप्रिय 'अभियान' के 'जात हि पूछो साधु की', 'प्रयोग' के 'कबिरा खड़ा बाजार में' ('जुलूस' नुक्कड़ नाटकों में शामिल है), 'सम्भव' के 'खानाबदोश' और 'अस्मिता' के 'कोर्ट मार्शल' के अतिरिक्त शायद ही कोई प्रस्तुति ऐसी हो। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय रंगमण्डल और श्रीराम सेन्टर रंगमण्डल जैसे व्यावसायिक कहे जाने वाले दलों के सर्वाधिक प्रदर्शित नाटक 'मुख्यमन्त्री' और 'जनपथ किस' हैं जिनके क्रमशः 85 और 54 प्रदर्शन हुए और यह कतई संयोग नहीं है कि दोनों के निर्देशक रंजीत कपूर हैं। 'यवनिका' ने 'ख़ालिद की ख़ाला' के पचास शो किए थे और शायद 'दिशान्तर' के 'आधे अधूरे' तथा 'अभियान' के 'घासीराम कोतवाल' या 'अग्रदूत' के 'शाबाश अनारकली' भी इस संख्या के आस-पास पहुँचे हों। यह केवल संयोग नहीं कि 'मुख्यमंत्री' और 'गोदान' को छोड़कर बहुमंचित ये सभी प्रस्तुतियाँ हास्य नाटक थे।

कोलकाता में 'अनामिका' ने 'गोदान' के 60, 'अदाकार' ने 'बीवी एक बला' के 72 और 'संगीत कला मन्दिर' ने 'एक गुलाम बीवी का' के अधिकतम 62 प्रदर्शन किए हैं। वहाँ 'रंगकर्मी' अच्छा और लगातार काम कर रहा है। उसके भी कुछ प्रदर्शन निश्चय ही सौ का आँकड़ा पार कर चुके होंगे या उसके आस-पास होंगे। मुम्बई में हो सकता है कि फ़िल्मी कलाकारों के कारण 'प्लेटफ़ार्म' के 'तुम्हारी अमृता', 'साल-गिरह', 'आल द बेस्ट' के प्रदर्शनों ने सौ की संख्या पार की हो और 'सेल्समैन रामलाल' एवं 'महात्मा वर्सेज़ गाँधी' (हिन्दी) भी लोकप्रिय हुए हों परन्तु 'इप्टा', 'मोटले', 'एकजुट' और 'यात्री' के (हिन्दी) नाट्य-प्रदर्शन चर्चित एवं लोकप्रिय होने के बावजूद प्रदर्शन-संख्या की दृष्टि से कोई बड़ा कीर्तिमान नहीं बना सके हैं।

चूँकि दिल्ली के अधिकांश और अंक (मुम्बई) के भी ज़्यादातर नाट्य-प्रदर्शनों का मैं साक्षी रहा हूँ, इसलिए यहाँ तुलनात्मक दृष्टि से दो-एक उदाहरण देने से स्वयं को रोक नहीं पा रहा। 'अंजी' और 'हत्तेरी क़िस्मत', दोनों विजय तेंडुलकर के नाट्यालेख हैं। 'अंजी' को दिल्ली के श्रीराम सेन्टर रंगमण्डल ने अभिमंचित किया था। परन्तु राजिन्दरनाथ जैसे वरिष्ठ-प्रतिष्ठित निर्देशक और आज के टी.वी. स्टार शेखर सुमन जैसे ऊर्जावान अभिनेता के बावजूद नाटक बेजान लगा था। परन्तु इसी नाटक को जब अंक ने प्रदर्शित किया तो वही आलेख एकदम जीवन्त और अत्यन्त दिलचस्प प्रतीत हुआ। दिल्ली में वह छः प्रदर्शनों के बाद ख़त्म हो गया और किसी ने भी उसे दुबारा करने का साहस नहीं किया। अंक उसके 750 शो कर चुका है और प्रदर्शन अब भी ज़िन्दा है। 'हत्तेरी क़िस्मत' एस.एस. ज़हीर और सुभाष गुप्ता जैसे 'अभियान' के लोकप्रिय कलाकारों के बावजूद शायद पाँच दिन भी नहीं चल पाया था, जबकि दिनेश ठाकुर उसके 113 शो कर चुके हैं। पिछले कुछेक वर्षों से दिल्ली की नई नाट्य-संस्था 'नटसम्राट' टिकिट लगाकर अपनी प्रस्तुतियों के बहुसंख्य प्रदर्शन करने का सफल प्रयास कर रही है- परन्तु उसकी सबसे बड़ी सीमा यह है कि वह अच्छे विदेशी हास्य-नाटकों के भारतीय रूपान्तरों तक

अंक के आरम्भिक दिनों में दिनेश और उनके साथी कलाकारों ने बसों, बाज़ारों, रेलवे स्टेशनों और सिनेमाघरों तथा सभागारों के सामने खड़े होकर व्यक्तिगत रूप से अपने नाटकों की टिकटें भी बेची हैं। उन टिकटों के पीछे प्रेक्षागृह तक पहुँचने के रास्ते का नक्शा भी बना होता था। आज उनके नाटकों के लिए लाइन लगती है, 'हाउसफुल' होता है और कभी-कभी निराश होकर दर्शकों को बिना देखे वापस भी लौटना पड़ता है। यह चमत्कार अपने-आप यूँ ही नहीं हो गया। इसके पीछे तीस वर्ष लम्बी एक कठिन रंग-यात्रा और वैविध्यपूर्ण एवं नियमित श्रेष्ठ नाट्य-प्रदर्शनों का संघर्षपूर्ण इतिहास है। बीस कलाकारों के नाट्यदल को अकेले दम इतने लम्बे समय तक चलाना और लगातार न केवल अपने दर्शक बनाए रखना, बल्कि उन्हें बढ़ाते रहना-समकालीन हिन्दी नाट्य-परिदृश्य में किसी अजूबे से कम नहीं है।

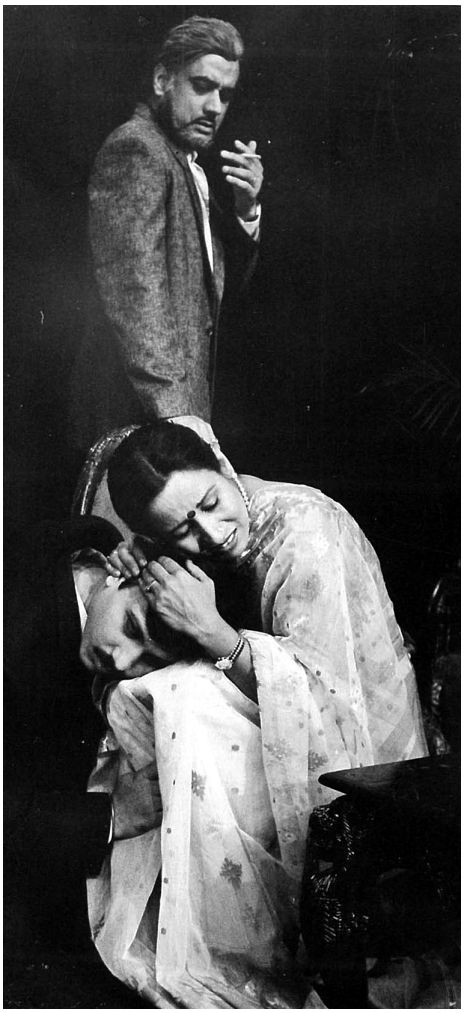

ही सीमित है। इसने अब तक एक भी गम्भीर नाटक नहीं किया, न ही प्रदर्शन-मूल्यों की दृष्टि से कोई बड़ा प्रतिमान स्थापित कर पाई है। महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि कई विश्वप्रसिद्ध हास्य-नाटकों का सफल हिन्दुस्तानी रूपान्तर करने वाले अंक ने आज तक कोई अश्लील, सस्ता और द्विअर्थी कमर्शियल नाटक नहीं किया है। उसके अधिकांश नाटक वही हैं जो देश-भर के प्रयोगशील रंगमंच पर गम्भीर, अर्थपूर्ण और कलात्मक माने जा चुके हैं। इनमें मोहन राकेश, विजय तेंडुलकर, बादल सरकार, गिरीश कार्नाड, महेश एलकुंचवार, असगर वज़ाहत, मन्नू भण्डारी, शंकर शेष, मुद्राराक्षस, बोधायन के अतिरिक्त चेखव, सार्त्र, मोलियर, गोगोल, टैनीसी विलियम्स, आर्थर मिलर, रिचर्ड नैश, जे.बी. प्रीस्टले, नील सायमन, आयन रैण्ड, आर्बुज़ोफ, बर्नार्ड शॉ इत्यादि के नाटक शामिल हैं।

अंक अपने नियमित प्रदर्शनों के अतिरिक्त प्रतिवर्ष अपना नाट्योत्सव भी करता है। सन् 1985 में अपने पहले दशक की वर्षगाँठ के अवसर पर 1 अक्टूबर से 31 अक्टूबर तक लगातार इसने अपने 10 नाटकों के जो 37 प्रदर्शन किए, वह आयोजन किसी भी नाट्य-दल के ईर्ष्या का कारण हो सकता है। 'जाने ना दूँगी' और 'तुगलक़' के 18 दिनों में क्रमशः 25 और 30 प्रदर्शन करना भी समकालीन हिन्दी रंगकर्म का एक कीर्तिमान ही कहा जा सकता है।

सन् 2000 को अंक ने विजय तेंडुलकर वर्ष के रूप में मनाया और साल-भर में तेंडुलकर के छह नाटकों के बहुसंख्य प्रदर्शन किए। इसी वर्ष अंक ने प्रयाग शुक्ल द्वारा सम्पादित एक गम्भीर एवं सुरुचिपूर्ण पुस्तक 'रंग तेंडुलकर' का प्रकाशन भी किया। आज तक मराठी, बांग्ला या कन्नड़ रंगमंच ने भी अपने किसी नाटककार के नाटकों का इतना बड़ा आयोजन नहीं किया।

अंक द्वारा प्रस्तुत अनेक नाटकों के हिन्दी अनुवाद का रूपान्तर स्वयं दिनेश ठाकुर ने किए हैं और दो-तीन अपवादों को छोड़कर सभी के निर्देशन, पार्श्वकर्म और प्रमुख भूमिका निभाने की ज़िम्मेदारी भी उन्होंने ही उठाई है। बकौल दिनेश, 'बड़े और बहुत अच्छे एक्टर मैं अफोर्ट नहीं कर सकता। न तो लम्बे समय तक टिकते हैं, ना ही अंक प्रति शो उनको अपेक्षित पारिश्रमिक ही दे सकता है। यह संस्था एक परिवार है, इसमें स्टार के नखरे नहीं चल सकते।'

बकौल दिनेश, 'बड़े और बहुत अच्छे एक्टर मैं अफोर्ट नहीं कर सकता। न तो लम्बे समय तक टिकते हैं, ना ही 'अंक' प्रति शो उनको अपेक्षित पारिश्रमिक ही दे सकता है। यह संस्था एक परिवार है, इसमें स्टार के नखरे नहीं चल सकते।'

अंक के आरम्भिक दिनों में दिनेश और उनके साथी कलाकारों ने बसों, बाज़ारों, रेलवे स्टेशनों और सिनेमाघरों तथा सभागारों के सामने खड़े होकर व्यक्तिगत रूप से अपने नाटकों की टिकटें भी बेची हैं। उन टिकटों के पीछे प्रेक्षागृह तक पहुँचने के रास्ते का नक्शा भी बना होता था। आज उनके नाटकों के लिए लाइन लगती है, 'हाउसफुल' होता है और कभी-कभी निराश होकर दर्शकों को बिना देखे वापस भी लौटना पड़ता है। यह चमत्कार अपने-आप यूँ ही नहीं हो गया। इसके पीछे तीस वर्ष लम्बी एक कठिन रंग-यात्रा और वैविध्यपूर्ण एवं नियमित श्रेष्ठ नाट्य-प्रदर्शनों का संघर्षपूर्ण इतिहास है। बीस कलाकारों के नाट्यदल को अकेले दम इतने लम्बे समय तक चलाना और लगातार न केवल अपने दर्शक बनाए रखना, बल्कि उन्हें बढ़ाते रहना-समकालीन हिन्दी नाट्य-परिदृश्य में किसी अजूबे से कम नहीं है।

अंक की सबसे बड़ी और बुनियादी ताकत है दिनेश-प्रीता की सहयोगी जोड़ी। इससे घर और संस्था साथ-साथ चल पाते हैं। इन्हीं के कारण अंक को नायक-नायिका, अनुवादक-रूपान्तरकार, निर्देशक, प्रबन्धक, संचालक, जन सम्पर्क अधिकारी इत्यादि संस्था के स्थायी आधार की तरह एक ही जगह उपलब्ध हैं। अन्य कलाकारों को दिनेश ने प्रशिक्षण मान-सम्मान, पैसा, समुचित अवसर सब कुछ दिया। फिर भी, बेहतर मौकों की तलाश में नए-पुराने कलाकारों का आना-जाना हमेशा लगा रहा। परन्तु किसी भी परिस्थिति या संकट में दिनेश ने हार नहीं मानी। पुराने अभिनेताओं की जगह तुरन्त नए कलाकार तैयार किए और अंक की प्रतिष्ठा

यह कैसी विडम्बना है कि एक तरफ़ दिनेश ठाकुर हैं जो पूरी तरह सरकारी सहायता की बैसाखियों पर खड़े प्रयोगधर्मी थिएटर और उसके बहुचर्चित-प्रतिष्ठित रंगकर्मियों को खुली चुनौती देते रहे कि यदि उनमें सच्चा दमखम है तो खुले मैदान में आएँ और टिकट-बिक्री के बल पर अपनी प्रस्तुति के सौ शो करके दिखाएँ! उधर प्रयोगशील नाट्य-निर्देशक और उनके उच्च-भ्रू समर्थक-आलोचक दिनेश ठाकुर के दर्शक सापेक्ष रंगकर्म को 'पॉपुलर थिएटर' कहकर हवा में उड़ा देना चाहते हैं, गोया लोकप्रियता घटियापन का पर्याय हो।

को हमेशा बनाए रखा। सम्भव एवं अपरिहार्य परिस्थितियों में कभी-कभी एक की जगह दूसरा नाट्य-प्रदर्शन भी करना पड़ा। प्रतिवर्ष दो-एक नए नाटक तैयार करने के साथ-साथ दिनेश कई पुराने नाटकों को भी ज़िन्दा रखते हैं और अनेक की पुनर्प्रस्तुतियाँ भी करते हैं। इधर इन्होंने दो-तीन अत्यन्त मनोरंजक और उत्कृष्ट दो-पात्री नाटक भी किए हैं। इन्हें पति-पत्नी मिलकर कभी भी, कहीं भी अपेक्षाकृत आसानी से प्रस्तुत कर लेते हैं।

दिनेश अपने प्रत्येक नाट्य-प्रदर्शन को प्रासंगिक एवं सामयिक सन्दर्भों से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। 'जिस लहौर नहिं देख्या ओ जनम्या इ नइ' -यूँ तो देश-विभाजन की त्रासदी से जुड़ा साम्प्रदायिक-सद्भाव, प्रेम और मानवीय मूल्यों का एक प्रासंगिक-आधुनिक नाटक ही है। परन्तु दिनेश गुजरात तथा मुम्बई के दंगों की वास्तविक घटनाओं की स्लाइडों के माध्यम से एकदम आज के वर्तमान से प्रत्यक्षतः जोड़कर, उसे सोचने के लिए मजबूर करने वाले एक उत्तेजक-सामयिक नाट्यानुभव में बदल देते हैं।

प्रयोगधर्मी रंगकर्म अभिव्यक्ति के नए और अपूर्व मुहावरे ढूँढने या गढ़ने का मौलिक कार्य करता है। इस प्रक्रिया में कभी-कभी कठिन कथ्य व्याख्या में कठिनतर हो जाता है। परन्तु जनसाधारण के लिए-सबके लिए-किए जाने वाले रंगकर्म में निर्देशक कठिन को सरल बनाकर पेश करता है। सरल होना एक बेहद कठिन कार्य है। दिनेश अपने प्रदर्शनों में इस सरल सम्प्रेषणीय को साधने की असाध्य साधना करते हैं।

दिनेश ज़रूरत पड़ने पर प्रदर्शन में फ़िल्मों गानों, प्रोफेशनल गायकों, चुटकुलों, अपने फ़िल्मी अन्दाज़ के लटके-झटकों, अतिनाटकीय भाव-स्थितियों और स्लाइडों का भी सार्थक इस्तेमाल करते हैं। उनके अधिकांश प्रदर्शन दर्शकों को पसन्त आते हैं। उन्हें 'पैसा वसूल' लगता है। अंक दिल्ली के 'मंज़र' में आए या 'भारत रंग महोत्सव' में, इन्दौर, देहरादून, जयपुर, लुधियाना, लखनऊ, कोलकाता या हैदराबाद जाए, उसके टिकटों के लिए अधिकतर लाइन लगती है और 'हाउसफुल' होते हैं। दर्शकों की सन्तुष्ट भीड़ देखना और उनकी तालियाँ सुनना दिनेश को प्रसन्न एवं उत्फुल्ल करता है। जब देखने वालों का नैन-रंजन, श्रुति-रंजन और मनोरंजन होता है और करने वालों को मज़ा आता है तो इस रंगकर्म को घटिया या सस्ता के फ़तवे देने वाले कौन होते हैं? मियाँ-बीवी राज़ी तो क्या करेगा काज़ी? लेकिन यह तर्क ठीक नहीं है, क्योंकि यह दिल्ली, कोलकाता, मुम्बई के हिन्दी, पंजाबी, मराठी, बांग्ला, गुजराती और अंग्रेजी या किसी भी भाषा में कहीं भी होने वाले कमर्शियल, अश्लील तथा बाज़ारू थिएटर पर भी लागू होता है। इसलिए प्रबुद्ध समाज का काज़ी तो रहना ही चाहिए, और वह अपनी सामर्थ्य-भर कुछ-न-कुछ करेगा भी। थिएटर एक गम्भीर, सामाजिद-सांस्कृतिक, कलात्मक और उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य-कलाप है। दिनेश भी यही मानते हैं। इसलिए ज़रूरी है कि कमर्शियल और दिनेश के सार्थक किन्तु लोकप्रिय/मनोरंजनक थिएटर के बुनियादी फ़र्क़ को समझ कर उसका विश्लेषण एवं मूल्यांकन किया जाए। आरोपों-प्रत्यारोपों के मूल कारणों की गहरी पड़ताल की जाए।

यह कैसी विडम्बना है कि एक तरफ़ दिनेश ठाकुर हैं जो पूरी तरह सरकारी सहायता की बैसाखियों पर खड़े प्रयोगधर्मी थिएटर और उसके बहुचर्चित-प्रतिष्ठित रंगकर्मियों को खुली चुनौती देते रहे कि यदि उनमें सच्चा दमखम है तो खुले मैदान में आएँ और टिकट-बिक्री के बल पर अपनी प्रस्तुति के सौ शो करके दिखाएँ! उधर प्रयोगशील नाट्य-निर्देशक और उनके उच्च-भ्रू समर्थक-आलोचक दिनेश ठाकुर के दर्शक सापेक्ष रंगकर्म को 'पॉपुलर थिएटर' कहकर हवा में उड़ा देना चाहते हैं- गोया लोकप्रियता घटियापन का पर्याय हो। दुर्भाग्य से रंजीत कपूर की उत्कृष्ट प्रस्तुतियों को भी-विदेशी नाटकों के रूपान्तरों के लोकप्रिय प्रदर्शन कहकर, कभी गम्भीरता से नहीं लिया गया और उनकी विरल नाट्य-प्रतिभा की हिन्दी के वरिष्ठ नाट्यालोचकों द्वारा

घोर उपेक्षा की गई। हिन्दी रंगकर्मियों में सहिष्णुता और परस्पर सहयोग-समझ की बहुत कमी है। इन्होंने अपने-आप को जैसे जलरुद्ध खण्डों में बाँट रखा है। एक-दूसरे के काम को देखना और खुले मन से उसे स्वीकारना इन्होंने सीखा ही नहीं। हर कोई अपने-अपने अहं के कारागार में बन्द है। कोई पारम्परिक और लोकधर्मी में कैद है तो कोई यथार्थवादी शैली में, कोई भव्यता का समर्थक है तो कोई सादगी का, कोई ब्रेख्तियन पद्धति का पुजारी है तो कोई मनोशारीरिक या नुक्कड़ नाटकों का मसीहा, कोई क्लिष्ट प्रयोगवाद को अंतिम उपलब्धि माने बैठा है तो कोई केवल कहानी-उपन्यास-कविता के मंचन का ही जयघोष करने में लगा है। कोई एब्सर्ड की सीमा में बँधा है तो कोई स्वदेशी-विदेशी के चक्कर में फँसा है। कोई दर्शक-सापेक्ष लोकप्रिय रंगकर्म को कसौटी मानता है तो कोई समीक्षक-सापेक्ष नाट्य-प्रयोगों के दो-एक प्रदर्शनों को ही वास्तविक और सही रंगमंच का प्रतिमान बनाए बैठा है।

यदि हम लोकप्रियता-विरोधी अपनी इस कुण्ठित संकीर्ण मनोवृत्ति को बदल लें तो शायद मुम्बई में हिन्दी थिएटर को लोकप्रिय एवं नियमित करने वाले दुःसाहसी और प्रतिबद्ध रंगकर्मी दिनेश ठाकुर के सार्थक व्यावसायिक रंगमंच को भी सिर्फ़ 'पॉपुलर थिएटर' कहकर उपेक्षित करना छोड़ दें। सौ-पचास रुपए की टिकट लगाकर एक ही दिन में तीन-तीन प्रदर्शन करना और मुम्बई जैसे मराठी-गुजराती तथा अंग्रेज़ी के कमर्शियल थिएटर की सुदृढ़ परम्परा में तथा फ़िल्मी चकाचौंध-भरे महानगर में लगातार नाटक करके पूरी आन और शान से ज़िन्दा रहना अपने-आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है।

दिनेश ठाकुर के रंगकर्म के उद्देश्य और नीयत पर सन्देह करने वालों को उनके नाटकों के चुनाव के साथ-साथ उनके 'भरत वाक्य' को भी याद रखना चाहिए। उनका नाटक गम्भीर हो या हास्य-प्रधान, वह उसके अन्त के बाद जिस तरह दर्शकों को सम्बोधित करते हुए परस्पर भेद-भाव, घृणा, असहिष्णुता, और हिंसा-आंतक के विरुद्ध प्रेम, एकता, भाईचारे, मानव-भविष्य, इंसानियत और मूल्यों की रक्षा का सार्थक सन्देश देते हैं- अन्ततः वह सबके दिलो-दिमाग़ को उद्वेलित करता है और याद रहता है। मज़े और मनोरंजन के साथ यह सामाजिक चेतना भी दिनेश के रंगकर्म का अहम मकसद है। यही मकसद किसी भी सच्चे साहित्य, रंगकर्म तथा कला-संस्कृति का मूलाधार है।

स्मरणीय है कि शत-प्रतिशत घाटे का सौदा होते हुए भी, केवल अपनी साहित्यिक कलात्मक प्रतिबद्धता या अभिरुचि की ख़ातिर, दिनेश ने 'राकेश और परिवेश : पत्रों में' का व्ययसाध्य प्रस्तुतीकरण किया। यह प्रस्तुति साहित्य-नाट्यप्रेमियों को मुफ़्त में दिखाई गई। फिर भी विडम्बना यह है कि किसी-किसी प्रदर्शन में तो 10-15 से ज़्यादा हिन्दी-भाषाप्रेमी दर्शक प्रेक्षागृह तक नहीं आए। इसके बावजूद, अंक ने मुम्बई-दिल्ली और अन्य शहरों में इसके बीस प्रदर्शन किए। क्या केवल लोकप्रिय थिएटर करने वाला व्यवसायी वृत्ति का कोई भी रंगकर्मी ऐसा नाट्य-प्रयोग कर सकता है?

इन तमाम तथ्यों के बावजूद या शायद इन्हीं के कारण दिनेश ठाकुर और उनके रंगकर्म पर बेशुमार इल्ज़ाम लगाए जाते रहे हैं- 'दिनेश का थिएटर मुम्बइया व्यावसायिक रंगमंच है जो दिल्ली के सार्थक, गम्भीर, कलात्मक और प्रयोगशील रंगकर्म के मुक़ाबले एकदम घटिया एवं बाज़ारू है।' 'इसका मुख्य उद्देश्य किसी भी तरह अपने दर्शकों को गुदगुदाना, हँसाना और तालियाँ पिटवाना-भर है।' 'सस्ती लोकप्रियता और सफ़लता के लिए ये केवल मनोरंजक नाटक ही चुनते हैं और दर्शकों को मूर्ख बनाने के लिए उनमें चटखारेदार लतीफ़ों, फ़िल्मी गानों एवं लोकलुभावन लटकों-झटकों और मसालों का इस्तेमाल करते हैं।' अंक की तथाकथित लोकप्रियता का एक बड़ा कारण दिनेश ठाकुर की मीडिया-छवि ही है। एक फ़िल्म टी.वी. अभिनेता को मंच पर प्रत्यक्ष देखने के लालच में ही जनता उनके नाटकों में उमड़ पड़ती है।' इत्यादि-इत्यादि।

मैं इनमें से किसी भी इल्ज़ाम से सहमत नहीं हूँ। मैं प्रयोगधर्मी और पैसा-कमाऊ कमर्शियल थिएटर के बीच दिनेश ठाकुर के मध्यममार्गी प्रोफ़ेशनल/व्यावसायिक रंगकर्म का पक्षधर हूँ और हिन्दी के मौजूदा रंगकर्म के सम्पूर्ण विकास की दृष्टि से इसे सार्थक और ज़रूरी मानता हूँ। परन्तु ऐसा नहीं है कि दिनेश या अंक के खिलाफ़ मुझे कोई शिकायत नहीं है। मैं उसकी कई कमियाँ और कमज़ोरियाँ अच्छी तरह जानता हूँ। दिनेश की आत्ममुग्धता का मैं घोर विरोधी हूँ। परन्तु दिनेश मेरा दोस्त है और उसके खिलाफ़ मुझे जो-कुछ भी कहना होगा, वह आपसे सार्वजनिक रूप से कभी नहीं कहूँगा-भाड़ में जाए मेरा तटस्थ समीक्षा-धर्म? अपनी शिकायतें व्यक्तिगत रूप से सिर्फ़ उसी से कहूँगा। परन्तु समस्या यह है कि ऐसा मैं कब कर पाऊँगा? कभी कर भी पाऊँगा या नहीं? क्योंकि अब तक जब भी मैंने इस बारे में कुछ कहने की कोशिश की है- तो वह हमेशा मुस्कराते हुए मेरे मुँह पर हाथ रख देता है और बड़े धार्निक अन्दाज़ में कहता है-

तू दोस्त है तो शिकायत न कर खुदा के लिए,
मेरा ज़मीर ही काफ़ी है, इस सज़ा के लिए।

और इसके बाद मैं चुप हो जाता हूँ। आप ही बताइये मैं इस मुश्किल में क्या करूँ?

अच्छा है, बुरा है, सच्चा है, झूठा है, सही है, ग़लत है- वो जैसा भी है मेरा दोस्त है, और मैं अपने इस दोस्त को, दिनेश-प्रीता की अद्भुत जोड़ी को, पागलपन की हदें छूते इनके नाट्य-प्रेम के बेशर्त समर्पण को, अटूट विश्वास को, दृढ़ संकल्प को और अंक की उपलब्धिपूर्ण लम्बी रंग-यात्रा को सलाम करता हूँ।

अंक की अनथक यात्रा

चन्द्रप्रकाश द्विवेदी

चालीस वर्ष का समय कम नहीं होता। चालीस सालों तक कभी तेज तो कभी शिथिल रूप में ही अनवरत सक्रिय रहना आसान नहीं है। ज़िद, पहचान, प्रतिष्ठा, विचार, शिल्प, प्रयोग से प्रेरित किसी रंगकर्मी के जीवन के कई पहलू होते हैं। दिनेश ठाकुर का आकलन और मूल्यांकन मैं नहीं कर सकता। मैं अपनी श्रुतियों और स्मृतियों से कुछ बातें कर सकता हूँ।

मुम्बई के हिन्दी रंगमंच के परिप्रेक्ष्य में दिनेश ठाकुर की पहचान और सक्रियता को समझना ज़रूरी है। कुछ श्रुतियाँ हैं। दादर में छबीलदास नाट्यगृह है। वह छबीलदास स्कूल का हिस्सा है। वहाँ कुछ लोग नाटक किया करते थे। उनमें सबसे अधिक चर्चित नाम था सत्यदेव दुबे। सत्यदेव दुबे की नाट्य संस्था थिएटर यूनिट के नाटकों में अमरीश पुरी, अरविन्द देशपाँडे, गजानन्द बंगेरा आदि भाग लिया करते थे। मुम्बई में रंगमंच के दुर्वासा सत्यदेव दुबे अपने प्रयोगों को लेकर सक्रिय थे। दुबेजी ने कभी पॉपुलर रुचि पर ध्यान नहीं दिया और अपने अहं एवं अभिमान के साथ नाटक करते रहे। कॉलेज में नाटक और रंगमंच में सक्रिय हर छात्र उन दिनों इप्टा के सम्पर्क में अवश्य आता था। इप्टा की तरफ से अन्तरमहाविद्यालयी नाट्य प्रतियोगिता सम्पन्न होती थी। चूँकि इप्टा से जुड़ी कई हस्तियाँ फिल्मों में एक स्थान बना चुकी थीं और छात्रों को उनके साथ मिलने-जुलने का मौका मिलता था, इसलिए इप्टा की गतिविधियों का विशेष आकर्षण रहता था। उन्हीं दिनों नादिरा जहीर बब्बर की नाट्य संस्था 'एकजुट' का भी मुम्बई रंगमंच पर आगमन हुआ। ओम कटारे की संस्था 'यात्री' और दिनेश ठाकुर के नाट्य समूह अंक ने अपने मंचनों से मुम्बई के रंगप्रेमी दर्शकों को आकर्षित करना आरम्भ कर दिया था।

दिनेश ठाकुर की सक्रियता और योगदान का मूल्यांकन करते समय हमें मुख्य रूप से इप्टा, 'थिएटर यूनिट', 'यात्री' और 'एकजुट' का एक समकालीन सन्दर्भ लेकर चलना हगा। इन सभी की विशेष पहचान थी। यह पहचान उनके व्यक्तित्व, रंगकर्म और राजनीतिक विचारों के कारण थी। दिनेश ठाकुर की पहचान शुद्ध नाट्यकर्मी की थी। उन्होंने किसी भी वाद या विचार से प्रभावित हुए बिना निरन्तर नाटक करना शुरू कर दिया था। उस दौर को याद करें तो इप्टा घोषित विचारों के साथ सक्रिय थी। इप्टा का एक सम्मानजनक स्थान रहा है मुम्बई में... इप्टा के सदस्यों की फिल्मी सक्रियता युवा रंगकर्मियों के लिए चुम्बकीय आकर्षण रहती थी। इप्टा प्रतिभाशाली युवा रंगकर्मियों को आमन्त्रण और अवसर भी देती थी। इप्टा से अलग सत्यदेव दुबे की पहचान थी। वे लोकप्रिय भावनाओं के दबाव में कभी नहीं आए। प्रगति और प्रयोग के पक्षधर सत्यदेव दुबे ने मुम्बई में हिन्दी रंगमंच को ऊर्जा और गति दी। इन दो के बीच अपनी उपस्थिति दर्ज करना और अपने नाट्य समूह के लिए दर्शक जुटा पाना बेहद कठिन और साधनापूर्ण कार्य था। दिनेश ठाकुर ने इस कठिन कार्य को पूरा किया और सफल रहे। उनकी सफलता का यही प्रमाण है कि वे तीस सालों के बाद भी प्रासंगिक हैं, सक्रिय हैं और नए प्रयोग कर रहे हैं— शिल्प-संरचना और प्रस्तुति में।

हम लोगों के लिए दिनेश ठाकुर रंगकर्मी से पहले एक फिल्म अभिनेता थे। उनके चेहरे पर सातवें-आठवें दशक की खास युवा रोमानियत थी उनकी दाढ़ी उस ज़माने में बहुत प्रभावशाली फैशन स्टेटमेण्ट थी। कई युवकों ने उन्हें देखकर दाढ़ी बढ़ा ली थी। शहरी असफल प्रेमी के रूप में उन्होंने अपने प्रशंसक जमा कर लिए थे। यह असफल प्रेमी हिन्दी फिल्मों के देवदास से अलग आधुनिक और हमारे करीब का था। दिनेश ठाकुर के व्यक्तित्व ने हमारे समय के युवकों को स्पष्ट रूप में प्रभावित किया था। उन्हीं दिनों पता चला था कि वे रंगमंच में भी सक्रिय हैं और 'अंक' उनकी संस्था है।

मुझे अंक की सबसे उल्लेखनीय बात यह लगती है कि इतने दिग्गज नाटककारों के बीच में दिनेश ठाकुर ने अपनी एक विशेष पहचान बनाई और जहाँ तक मुझे लगता है कि वह विशेष पहचान उनकी किसी भी प्रकार की राजनीतिक स्वीकृति या विचारधारा के कारण नहीं रही। वे विशुद्ध रूप से कला और रंगमंच के लिए समर्पित व्यक्ति के रूप में उभरे। उनका रंगमंच सिर्फ कलात्मक और रंगमंचीय उद्देश्यों के लिए था।

उनका एक बड़ा योगदान विजय तेंडुलकर को हिन्दी नाट्य रसिकों तक ले जाने का रहा है। इप्टा और सत्यदेव दुबे अपनी तरह से विजय तेंडुलकर को हिन्दी में ले आए थे। विजय तेंडुलकर देश-भर में मंचित

किए जा रहे थे। फिर भी दिनेश ठाकुर का विशेष योगदान रहा। चूँकि दिनेश ठाकुर के साथ राजनीतिक निष्ठा का बिल्ला नहीं था, इसलिए उनके नाटक में काफी प्रयोग दिखे। अंक ने हर तरह के नाटक किए। अंक के विकास के साथ दिनेश ठाकुर में सामाजिक चेतना जगी। उनके नाट्य-शिल्प में कलात्मक प्रस्तुति से सामाजिक सोच का यह प्रवास दिखता है। पिछले कुछ वर्षों में नाटकों के चुनाव और मंचन से वह अपनी प्रतिबद्धता भी ज़ाहिर कर रहे हैं। इस क्रमिक बदलाव के बावजूद उन्होंने अपनी प्रतिबद्धता की कोई उद्घोषणा नहीं की और न ही यह चाहा कि कोई उनकी पीठ थपथपाए। दिनेश ठाकुर में आत्मश्लाघा नहीं है।

नाटकों में घोषित रूप से आन्दोलन, अभियान या एक्टिविज़्म नहीं रहता। दिनेश ठाकुर ने बाबरी मस्जिद के ध्वंस के बाद अपने नाटकों के माध्यम से उसका विरोध किया। वे साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक ताकतों के खिलाफ नज़र आए। उन्होंने इस उद्देश्य से कुछ नाटकों का मंचन मुम्बई के बाहर भी किया। उन्होंने मंचन के बाद सीधे दर्शकों के समक्ष अपनी बातें भी रखीं। नफ़रत से लड़ने के लिए लोगों को सामने आना चाहिए। दिनेश ठाकुर ने अपनी मंशा पृथ्वी थिएटर के दर्शकों के सामने रखी। 'जिस लहौर नहिं देख्या' और हाल के नाटक 'टोपी शुक्ला' में उसी विचार की प्रगति दिखती है। वह विचार ठोस दिशा और स्वरूप ले रहा है। 1993 से दिनेश ठाकुर लगातार सामाजिक सद्भावना की चेतना के प्रति रंगकर्मी के तौर पर अपनी प्रतिबद्धता व्यक्त करने के साथ दर्शकों से भी अपेक्षा कर रहे हैं कि उनके बीच भी ऐसी चेतना जाग्रत हो। शिल्प में मुझे विविधताएँ दिखती हैं। हिन्दी रंगमंच में कभी इतना पैसा नहीं रहा कि विशाल सेट तैयार किए जाएँ। दिनेश ठाकुर ने मुम्बई में 'तुग़लक़' का मंचन किया था। इस नाटक के मंचन में दिनेश ठाकुर का कलाबोध और दृश्यशिल्प प्रभावित करता है। पृथ्वी थिएटर के मंच के अनुरूप ही वह सेट डिजाइन कर लेते हैं। कम खर्च में अधिकाधिक कल्पनाशीलता और प्रयोग से सुन्दर नेपथ्य कैसे तैयार किया जाए... इन दिनों नाटकों में नेपथ्य की कल्पना खत्म हो रही है। नेपथ्य संरचना वास्तव में कला-शिल्प है। यह निर्देशक की कल्पनाशीलता पर निर्भर करता है।

दिनेश ठाकुर ने हिन्दी के मूल नाटक, भारतीय भाषाओं के नाटक और उसके बाद भावानुवाद भी किए। एक तरह से देखें तो दिनेश ठाकुर का अंक एक प्रयोगशाला है। यह अभिनेताओं की प्रयोगशाला है। तीस सालों से सतत काम कर रही एक संस्था की अपनी चुनौतियाँ रही होंगी। संस्था को जीवित और सक्रिय रखने के साथ नई प्रतिभाओं को अवसर देना, उन्हें खिलने और निखरने का मौका देना... गौर करें तो मुम्बई रंगमंच और टेलीविजन एवं फिल्म में पहचान बना चुके कई अभिनेता अंक से निकले। कलाकारों की एक लम्बी श्रृंखला अंक से निकली और उसने फिल्म एवं टीवी को भी समृद्ध किया। इस योगदान को नज़र अन्दाज नहीं किया जा सकता। यह भी एक किस्म की सफलता है और इसका उचित श्रेय दिनेश ठाकुर को मिलना चाहिए।

अभिनेता दिनेश ठाकुर का लोहा सभी मानते हैं। उनका कद्दावर व्यक्तित्व है, ऊँचा कद, भावपूर्ण आवाज, शुद् उच्चारण और आकर्षक प्रस्तुति.... अभिनेता के सारे गुण उनके पास हैं। निर्देशक के तौर पर बमुश्किल एक-दो निर्देशक ही उनके करीब नजर आएँगे। इतने लम्बे समय तक किसी निर्देशक की सर्जना का सतत् प्रवाह चकित करता है। दूसरे नाट्य-समूहों के पास कई प्रकार के सहयोग और सम्बल थे। इस लिहाज से दिनेश ठाकुर का अकेला प्रयास अचम्भित करता है। एकला चलो रे... दिनेश ठाकुर की विवशता रही या दर्शन... मुझे लगता है कि दिनेश ठाकुर में वैयक्तिकता थी। वे सहयोग लेते, मगर सृजन अपनी कल्पना से ही करते रहे। वे देश की पारम्परिक और प्रचलित नाट्यशैलियों के साथ प्रयोग करते रहे। 'आला अफ़सर' में उन्होंने नौटंकी शैली का अद्भुत उपयोग किया। गौरतलब है कि वे मुम्बई में रहकर यह कर रहे थे। मुम्बई में ही वे पृथ्वी थिएटर की सीमाओं से बाहर निकलने और नए दर्शकों तक पहुँचने की कोशिश भी करते रहे। इस प्रयास में कभी असफल हुए तो भी उनमें निराशा नहीं देखी। उन्होंने नाटकों को अभिजात दर्शकों से बाहर ले जाने की हिम्मत की। भावानुवाद में वे मूल नाटक को उसके काल-परिवेश में तोड़कर आज के सन्दर्भ में ले आते हैं। उसे प्रासंगिक बनाते हैं। 'तुग़लक़' भी उदाहरण है। नाटककार की तमाम विविधताओं और चुनौतियों को दिनेश ठाकुर ने स्वीकार किया। उन्होंने गम्भीर-विचारपूर्ण नाटकों से लेकर प्रहसनों तक का मंचन किया।

दिनेश ठाकुर एक साथ निर्देशक, लेखक और अभिनेता रहे। मुम्बई रंगमंच में ऐसी त्रिआयामी प्रतिभा नहीं दिखती। उनकी यह परिपूर्णता भारतीय रंगमंच की उपलब्धि के तौर पर रखी जानी चाहिए। उनकी विशिष्टताओं की बात करें तो प्रकाश और संगीत का वे बेहतरीन प्रयोग और उपयोग करते हैं। वे ड्रामैटिक लाइटिंग करते हैं। वे नाट्यविधा के शिल्पों का इस्तेमाल करते हैं। चूँकि वे सिनेमा से भी जुड़े रहे हैं, इसलिए कथा कहने के शिल्प में नाट्य-विधियों की कुछ सीमाएँ हैं। वे उन सीमाओं से उबरने के लिए दूसरे माध्यमों का भी उपयोग करते हैं। उन्होंने अपने एक नाटक में स्लाइड्स का इस्तेमाल किया। संवाद और स्लाइड के प्रोजेक्शन में तकनीकी कुशलता के साथ कल्पनाशीलता भी चाहिए। 'टोपी शुक्ला' के मंचन में कुछ दृश्यछवियों का उपयोग करते हैं। 'टोपी शुक्ला' के बचपन की कहानी के लिए वे ऐसा उपक्रम चुनते हैं। वे दृश्य-श्रव्य माध्यम के उपयोग से सिनेमाई तकनीक नाटक में ले आते हैं और इसमें वे सफल भी हैं।

मेरे ख़याल में दिनेश ठाकुर चुनौतियों से आगे बढ़कर नए प्रयोगों के लिए सतत प्रयत्नशील रहे। दिनेश ठाकुर की सीमाओं, सम्भावनाओं और सफलताओं का आकलन करते समय मुम्बई में सक्रिय समकालीन नाट्य-समूहों की विशेषताओं और क्षमताओं को भी नज़र में रखना होगा। दिनेश ठाकुर ने अकेले ही रंगमंच की लड़ाई लड़ी है। वे इसके रणनीतिज्ञ, सृजक और चिन्तक रहे। दिनेश ठाकुर ने कभी व्यक्तिगत उपलब्धियों को महत्व नहीं दिया। उनकी वैयक्तिकता सिर्फ सृजन के लिए है। उसके बाद वे सामाजिक विधान रचते हैं। अंक की चार दशकों की सतत यात्रा के अवसर पर यह संभावना अब यकीन में बदलने लगी है कि दिनेश और उसके अंक का सपना फिर नई ताजगी के साथ रंगभूमि पर चहकेगा। आने वाले वर्षों में यह समूह नए प्रयोग करते दिखता रहेगा। प्रीता और उसके सभी सहयोगी कलाकारों को मेरा हृदय से शुभकामनायें।

(अजय ब्रह्मात्मज से बातचीत पर आधारित)

अनगिनत हो अंक

अतुल तिवारी

सिर्फ संख्या की बात करें तो भी अंक के आँकड़े अभिभूत कर जाते हैं। एक बहुत लम्बा अरसा किसी भी ख़याल को, आन्दोलन को, जुनून को ज़िन्दा रखने के लिए। पर 'अंक' ने यह कर दिखाया है। जनसंख्या के हिसाब से भारत के दोयम दर्जे के शहर मुम्बई में 'हिन्दी रंगमंच' को सम्मान और स्थान दिलाने का जो पहला प्रयास शुरू किया था, अंक ने, वो आज भी उसी जुनून से जारी है। अंक नाम का आन्दोलन अभी भी हिन्दी रंगमंच को स्थापित करने की जंग में जूझ रहा है। इन गुजरे वर्षों में एक पूरी पीढ़ी आई और गई पर अंक जुटा हुआ है- संस्कृति के मैदान में। शायद ही कोई ऐसा नाट्यदल हो जिसने 73 नाटकों के 6500 प्रदर्शन किये हों तीस वर्षों में। और फिर पिछले साल अंक ने एक ऐसा कीर्तिमान स्थापित कर दिया जिसका सानी भारत में दूसरा नहीं है। नाटक 'हाय मेरा दिल' का जब पृथ्वी थिएटर में हज़ारवाँ मंचन हुआ तो वो हिन्दी रंगमंच के इतिहास में एक ऐतिहासिक लमहा था (यहाँ हम 'अदरख के पंजे' जैसे रेवो की नहीं प्लेज़ की चर्चा कर रहे हैं।)। आज़ाद भारत के इतिहास में हज़ार शोज़ करने का सानी मुझे तो कोई और नाटक याद नहीं पड़ता। इसके अतिरिक्त भी नाटक के प्रदर्शनों में सैकड़ा मारने में-गावस्कर जैसी कंसिस्टेंसी अंक ग्रुप ने लगातार दिखाई है। हाय मेरा दिल (1016 प्रदर्शन), बीवियों का मदरसा (826 प्रदर्शन), अंजी (751 प्रदर्शन), जात हि पूछो साधु की (315), कन्यादान (160), कमला (214), भागम भाग (668), हम दोनों (171), जिस लहौर... (105) के प्रदर्शन ही इस बात को साबित करते हैं कि अंक न केवल हर साल औसतन 2 से 3 नये नाटक करता है, बल्कि उनकी गुणवत्ता ऐसी होती है कि इन नाटकों के मंचन भारत-भर में होते ही रहते हैं।

आइये! अब 'नाटक' वाले अंक की बात करें। वैसे तो एक नाटक में कुछ-एक अंक होते हैं- पर यहाँ इस अंक में जाने कितने नाटक समाहित हैं और वो भी कैसे-कैसे! मैं अपने वैयक्तिक अनुभव की बात करना चाहूँगा। मैं लखनऊ जैसे मझोले शहर में जब होश सँभाल रहा था और थिएटर से मुतासिब हो रहा था कि तभी पता चला कि मुम्बई का एक नाट्यदल अपने नाटक लेके आ रहा है। फ़िल्म 'रजनीगन्धा' का दाढ़ीवाला हीरो भी इस नाटक में है। यह सुनकर मामला और भी अधिक उत्तेजक हो गया (शायद युवाओं की इसी उत्तेजना को भुनाने की कोशिश करने में वो सारे लोग लगे रहते हैं जो फ़िल्म स्टारों को लेकर एक-आध नाटक करने का फैशन चला रहे हैं।)। पर तभी मेरे सीनियर ने मुझे बताया कि ये दाढ़ीवाला युवक असल में रंगमंच की उपज है और मुम्बई जाने से पहले दिल्ली में 'आधे अधूरे' जैसे नाटक कर चुका है। अब तो एक अपने जैसे इनसान को देखने के लिये मन और भी मचलने लगा- जिसने नाटक की शक्ति से फ़िल्म की दुनिया पर झण्डे गाड़े। लखनऊ शहर में अंक के नाटकों 'काग़ज़ की दीवार', 'बाक़ी इतिहास' और 'हाय मेरा दिल'- ने ख़ूब धूम मचाई। मेरे लिए इतनी ख़ूबसूरती से किए गए तीन अलग-अलग किस्म के नाटक एक मूल्यवान अनुभव थे।

सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि यह कारवाँ किस दिशा में चल रहा है? सारे ज्वार-भाटों और लहरों-थपेड़ों के बीच दिनेशजी ने इस बात का खयाल रखा कि 'अंक' नाम की नाव एक सार्थक दिशा में चलती रहे। तभी वो कभी एक पूरे वर्ष श्री विजय तेंडुलकर जैसे अद्वितीय नाटककार को नाट्यांजलि देते रहे तो कभी गुजरात के दंगों के बाद-'जिस लाहौर नहिं देख्या' जैसा हिम्मतवर प्रयोग कर सके।

फिर तो जैसे-जैसे मैं नाटक के संसार-सागर में उतरता चला गया, उतना ही बार-बार अंक और दिनेश ठाकुर के नाम से और काम से परिचित होता गया। मुम्बई आकर तो उनके काम से साक्षात्कार वैसे ही होता है जैसे 'पृथ्वी' थिएटर के पास समुद्र से। जब मैं मुम्बई आया तब तक टेलीविजन और व्यावसायिकता, दोनों की भरपूर मार से जूझ रहा था थिएटर। पर ऐसे समय में भी सार्थक और सामाजिक रूप से ज़िम्मेदार नाटकों का चयन और मंचन करने में लगे हुए थे श्री दिनेश ठाकुर। उनका नाम लेना इसलिये ज़रूरी है कि अंक में बहुत-से लोग आते रहे, जाते रहे- यहाँ से सीख के नये-नये नाट्यदल बनाते रहे- किन्तु दिनेशजी-युद्धपोत के कप्तान की तरह अंक की नाव को अपने दोनों हाथों से खेते ही रहे। मुम्बई आने वाले हिन्दीभाषी नौसिखिया अभिनेताओं के लिए तो अंक 'नोआ की नाव' था जिसमें सवार होकर वक़्त के निर्मम तफेड़ों से बचा जा सकता था। और मौसम साफ होने पर पतली गली से निकला जा सकता था। अगर साहिर के शेर को थोड़ा तोड़-मरोड़ कर कहूँ तो- 'लोग आते गये, जाते गये पर अंक का कारवाँ चलता गया।'

पर सबसे महत्वपूर्ण बात थी कि यह कारवाँ किस दिशा में चल रहा है? सारे ज्वार-भाटों और लहरों-थपेड़ों के बीच दिनेशजी ने इस बात का खयाल रखा कि अंक नाम की नाव एक सार्थक दिशा में चलती रहे। तभी वो कभी एक पूरे वर्ष विजय तेंडुलकर जैसे अद्वितीय नाटककार को नाट्यांजलि देते रहे तो कभी गुजरात के दंगों के बाद-'जिस लाहौर नहिं देख्या' जैसा हिम्मतवर प्रयोग कर सके। वैसे तो अंक के आगोश में जाने कितने आए और गए, पर प्रीताजी का नाम लेना मैं यहाँ ज़रूरी समझता हूँ। अथाह ऊर्जा से भरी यह महिला अनथक रूप से बिना एक दिन का ब्रेक लिए बरसों से दिनेशजी के साथ अंक की रीढ़ की हड्डी बनी खड़ी हैं।

'अंक' और दिनेश ठाकुर

अंक और दिनेश ठाकुर को अलग करके नहीं देखा जा सकता। यूँ तो अंक से बहुत लोग जुड़े, अलग हुए, लेकिन हकीकत यह है कि अंक आज जो कुछ भी है, दिनेश ठाकुर की एकनिष्ठ लगन और कठोर परिश्रम का ही फल है। अतः अंक से पहले दिनेश के बारे में ही बात की जाए। उससे मेरी पहली मुलाकात तब हुई जब वो 'दिशान्तर' के नाटकों के साथ 1966-67 में जयपुर आया। और यह पहली ही मुलाकात दोस्ती में बदल गई। इसमें अगर कोई कुसूर था तो केवल और केवल दिनेश ठाकुर का। फिर दूसरी मुलाकात हुई दिल्ली में, जब मैं मोहन भाईसाहब (मोहन महर्षि) की प्रस्तुति 'शतुरमुर्ग' के साथ आया था। तब दिनेश सुरेन्द्र वर्मा के साथ मिले और इसरार किया कि मैं सुरेन्द्र के नाटक 'द्रौपदी' के कुछ अंश सुनूँ। फिर दो-एक साल का लम्बा वक्फ़ा। मैं राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में आ गया। इस बीच दिनेश 'आधे अधूरे' में अपने अभिनय के लिए चर्चित हो चुके थे और उसने बासु चटर्जी की फिल्म 'रजनीगन्धा' भी कर ली थी। राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय अपने नाटक लेकर मुम्बई पहुँचा तो दिनेश ठाकुर वहाँ मौजूद। वही ख़ुलूस, वही गर्मजोशी, वही अपनापन। जब भी सम्भव हुआ, जैसे भी सम्भव हुआ— तब-तब साथ। फिर लम्बी अवधि तक कोई मेल-मुलाकात नहीं। अचानक संगीत नाटक अकादमी के आयोजन में गोआ में 'पशु गायत्री' की अपनी प्रस्तुति के दौरान मुलाकात। यह पहला अवसर था जब दिनेश ने मेरा कोई काम देखा। इस बार दिनेश का उत्साह और भी अधिक।

इसके बाद जब-तब हमारी मुलाकातें मुम्बई में होने लगीं। बहुत लोगों का ख़याल है कि दिनेश ने अंक की स्थापना तब की, जब उसके पास फिल्मों में काम नहीं रह गया था। लेकिन यह सच नहीं है। फिल्मों में अभिनय और लेखन में व्यस्त रहते हुए ही दिनेश ने अंक की स्थापना की। अक्सर होता यह है कि फिल्मों में थोड़ी-बहुत सफलता पा लेने के बाद लोग हर तरह का समझौता करते हुए भी फिल्मों से ही चिपके रहना चाहते हैं। लेकिन दिनेश ने ऐसा नहीं किया। फिल्मों में सक्रिय रहते हुए उसने लगभग एक ज़िद के चलते मुम्बई नगरी में हिन्दी नाटकों के लिए जगह तलाशी। अंक की स्थापना से पहले मुम्बई में आधुनिक हिन्दी रंगमंच केवल 'इप्टा' की छुटपुट प्रस्तुतियों तक ही सीमित था। दिनेश ने लगभग अकेले दम न केवल मुम्बई में हिन्दी रंगमंच को एक सार्थक पहचान दिलाई, अपितु एक बड़ा दर्शक वर्ग भी वहाँ तैयार किया। और आज स्थिति यह है कि अंक अखिल भारतीय स्तर पर एक पहचान बना चुका है और मुम्बई नाट्य जगत् का तो वह एक ऐसा हिस्सा है, जिसे अहिन्दीभाषी समाज भी प्यार और सम्मान देता है। अंक के माध्यम से जो प्रस्तुतियाँ दिनेश करता रहा है, उनमें लोकप्रियता और गम्भीर कलाकर्म के बीच लगभग असम्भव-सा दिखने वाला सन्तुलन बनाए रखने की कोशिश बराबर दिखती है।

नाटक लोकप्रिय हों, दर्शकों का भरपूर रंजन करें, यह प्रयास दिनेश का बराबर रहा। लेकिन साथ ही सार्थक रंगकर्म के प्रति भी दिनेश का समर्पण उसे आधुनिक भारतीय रंगकर्म में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति के रूप में प्रतिष्ठित करता है। मुम्बई या कि मुम्बई जैसी मायानगरी में लंबे समय तक रंगकर्म के सहारे स्वाभिमान की ज़िन्दगी जी लेना और अपनी एक सार्थक पहचान कायम रखना, सचमुच बड़े जीवट का कार्य है और मैं इस जीवट को सलाम करता हूँ। **-भानु भारती**

हम तो रास्ता थे, हैं और रहेंगे

आनंद सिन्हा

समकालीन भारतीय रंगमंच में जिन रंग निर्देशकों को समादर प्राप्त है दिनेश ठाकुर उनमें से अग्रणी निर्देशक और अभिनेता रहे हैं। उनके दल अंक के अब चालीस वर्ष हो चुके हैं। अब वे हमारे साथ नहीं हैं फिर भी मुझे कभी कभी अपने फोन पर लिखे नाम से लगता है कि वे कब बोल पडेंगे 'और आनंद भाई क्या हो रहा है'?

भारत की ही नहीं वरन् दुनिया की मशहूर फिल्मी नगरी में रहने के बावजूद नाटक को अपनी सुनिश्चित नागर रंगमंच की पहचान के साथ वे अंत तक करते रहे अब प्रीता जी ने यह ज़िम्मेदारी अपने हाथ में ली है, उसे सतत जारी किए हुए हैं। मेरा उनसे प्रथम परिचय रवीन्द्र भवन में कला परिषद् के द्वारा आमंत्रित एक प्रस्तुति के अवसर पर हुआ था। नाटक समाप्त होने पर ग्रीन रूम में खडे होकर कह रहे थे 'उस आनंद सिन्हा नाम के प्राणी को बुलाओ। मुझे उसका फोटो लाकर दिखाओ, वो कैसा है मैं देखना चाहता हूँ।' मुझे जब यह बताया गया कि दिनेश भाई ग्रीन रूम में याद कर रहे हैं तो मैं डरते-डरते उनके सामने पहुँचा और उन्होंने अपनी छाती से लगा लिया। जिसके भीतर एक विराट दिल रहता था। फिर उनकी आख़िरी आवाज़ मैंने इलाहाबाद-बनारस के गंगा के पुल पर सुनी जब किरण भटनागर को बनारस छोडने जा रहा था यह मध्यप्रदेश नाट्य विद्यालय की पहली बघेलखंड घूमंतू कार्यशाला के समापन की शाम थी, जहाँ मैं शुरुआती दो वर्ष पदस्थ था। उस जीवंत आवाज को हम आज सामने सुन नहीं पा रहें परंतु महसूस करते हैं।

अंक यात्रा के 30 वर्ष समाप्त होने पर वे लिखते हैं 'हम अगर थियेटर में अपने तीस साल पूरे करने का जश्न नहीं मनाते, तब भी तीस साल तो पूरे होते ही। लेकिन थिएटर वालों के लिए तो हर दिन, हर शो जश्न हुआ करता है और सच पूछें तो ज़िंदगी का हर ज़िंदा पल, हर सुबह, हर साँस भी तो एक जश्न है। बस मनाने का उत्साह और हौसला चाहिए इसीलिए यह नाट्य यज्ञ है।' अंक का यज्ञ लगातार देश भर में हो रहे प्रदर्शनों में अभी भी जारी है। अगर वे आज हमारे साथ होते तो 70वें वसंत को पार कर चुके होते। भोपाल में ही भारत भवन में तीन नाटकों की प्रदर्शन यात्रा में उन्हें कहा था, 'दयारे फन में जहाँ मंजिलें भी फानी हैं तमाम उम्र भटकने का हौसला रखिए।' दरअसल सभी के रास्ते होते हैं पर रास्ते कहीं नहीं पहुँचते। उन पर चलने वाले कहीं-कहीं पहुँच जाते हैं। इस फ़लसफ़े को दिनेश ठाकुर ने देशभर में अपने प्रदर्शनों के लिए घूम-घूम कर जिया उनकी जीवन संगनी प्रीता माथुर ठाकुर भी इस एक जन्म में कई कई जन्म जीना चाहती हैं। पिछले तीन दशकों की रंग यात्रा में उन्होंने यह जीवनानुभव पाकर अपने अभिनय में व्यक्त किया है। प्रीता विचारशील महिला, अभिनेत्री, गृहस्थ और रंगकर्म के सवाल-जवाबों में बढ-चढ कर हिस्सा लेने वाली महिला हैं।

'अंक' का यज्ञ लगातार देश भर में हो रहे प्रदर्शनों में अभी भी जारी है। अगर ठाकुर आज हमारे साथ होते तो 70वें वसंत को पार कर चुके होते। भोपाल में ही भारत भवन में तीन नाटकों की प्रदर्शन यात्रा में उन्होंने कहा था, 'दयारे फन में जहाँ मंजिलें भी फानी है तमाम उम्र भटकने का हौसला रखिए।' दरअसल सभी के रास्ते होते हैं पर रास्ते कहीं नहीं पहुँचते। उन पर चलने वाले कहीं-कहीं पहुँच जाते हैं। इस फ़लसफ़े को दिनेश ठाकुर ने देशभर में अपने प्रदर्शनों के लिए घूम-घूम कर जिया उनकी जीवन संगनी प्रीता माथुर ठाकुर भी इस एक जन्म में कई कई जन्म जीना चाहती हैं।

बंबई जो अब मुंबई के नाम से जाना जाता है, वहाँ पृथ्वी थियेटर बन जाने के बाद दिनेश भाई ने टिकिट बेच-बेच कर अपने आपको मुंबई में रंगकर्मी के रूप में

स्थापित किया। यह वह दौर था जब टिकिट पर पृथ्वी थियेटर पहुँचने के लिए उसका नक्शा छापना पडता था। दिशांतर के 'आधे अधूरे' से इन्होंने अपनी पहचान बनाई अपने जीवन का ७५ प्रतिशत ७५ नाटकों के साथ उनकी हज़ारों प्रस्तुतियाँ देश विदेश में भी, यह अंक का गणित सुविख्यात कला समीक्षक प्रयाग शुक्ल के शब्दों में 'अचरज पैदा करने वाला है। अंक की सक्रियता, प्रयोगशीलता कौन से मानक बनाएगी यह रंगकर्म के लिए आश्वासन प्रकट करता है।'

अंक की पहली प्रस्तुति दिसम्बर 1978 में बादल सरकार लिखित नाटक 'बाक़ी इतिहास' का देहली से थियेटर कर मुम्बई पहुँचने वाले इस रंग यात्री का जब पहला नाटक ठीक तरह सफल नहीं हुआ तब भी उन्होंने हार नहीं मानी। लोग बाग उनके 'अनुभव' और 'रजनीगंधा' फिल्मों को देखकर अभिनय से परिचित थे परंतु नाटकों के प्रति अभी जनता का आकर्षण नहीं बन पाया था लेकिन दिनेश जी हार मानने वाले नहीं थे। उनका संयोजनकर्ता का बल व्यावसायिक हिंदी रंगमंच के दर्शक बनाने में सफल रहा, जबकि मुम्बई में मराठी और गुजराती, अँग्रेजी के रंग दर्शकों की काफी संख्या तब भी थी और अब भी है।

बंबई जो अब मुंबई के नाम से जाना जाता है, वहाँ पृथ्वी थियेटर बन जाने के बाद दिनेश भाई ने टिकिट बेच-बेच कर अपने आपको मुंबई में रंगकर्मी के रूप में स्थापित किया। यह, वह दौर था जब टिकिट पर पृथ्वी थियेटर पहुँचने के लिए उसका नक्शा छापना पड़ता था।

मुम्बई में रंगकर्म जो किया वह एक शहरी रंगकर्म की दृष्टि को लिए हुए दर्शकों को ध्यान में रखते हुए उन्होंने किया। 'हाय मेरा दिल' और 'सेन्ड मी नो फ्लावर्स' किया जो हाउसफुल प्रदर्शन रहा। मनोरंजन के साथ सामाजिक संदेश मिश्रण काम कर रहा था।

इन पंक्तियों के लिखे जाने के दस वर्ष पूर्व भोपाल में सतीश मेहता के प्रयासों से किए जाने वाले दो नाटकों का मैं यहाँ उल्लेख करना चाहता हूँ जिन पर दैनिक भास्कर भोपाल द्वारा मुझे आमंत्रित श्रेणी में रंग समीक्षा का मौका दिया था। डॉ. शिरीष आठवले द्वारा मूलत: मराठी में लिखित अंक की यह प्रस्तुति 'मित्र' थी यह हिंदी में रूपांतरित नाटक है जो दोस्ती के बहाने मानवीय भावनाओं को छू लेने की कोशिश है।

नाटक में प्रो. केशव भारद्वाज एक ऐसे बुज़ुर्ग हैं जो पत्नी की मृत्यु के बाद वृद्धावस्था और बीमारी के वावजूद अपने पुत्र और पुत्री की मदद नहीं चाहते जब नर्स के रूप में उन्हें एक मददगार की व्यवस्था की जाती तो उसे वह जातीय कारणों से पसंद नहीं करते बाद में उसकी सेवा भावना से प्रभावित होते हैं।

जब हम ख़ासकर किसी दु:ख या परेशानी में उलझे होते हैं तब हमें जीवन की कठोरता का भास होता है परंतु जैसे ही छोटी-छोटी खुशियों को हम समेटने और अपनाने लगते हैं तो जीवन एक सुंदर घटना बन जाती है। दिनेश जी ने 'मित्र' के इस कथानक को दृश्यों एवं अभिनय के माध्यम से कुछ इस तरह रखा कि उनके भीतर छुपी मानवीय संवेदना सहज रूप से सामने आकर संप्रेषित होती दिखी।

दूसरा नाटक 'हम दोनों' था। इसमें जीवन की धूप छाँव और अकेलेपन को दर्शाया गया है। यह अर्जुजोब के मूल रूसी नाटक पर आधारित था। इस नाट्य प्रदर्शन में भाषा की गहराई को संवाद अदायगी में इस्तेमाल किया। नाटक में सामान्यत: पात्र एक चरित्र-भूमिका को निभाता है और समाप्त कर देता है। जीवन में कुछ कमियाँ रह जाती हैं। यहाँ भी ऐसा ही हुआ बावजूद नाटक मजे से चलता रहा।

यह देखने में आया कि यदि कथानक को बदलकर पढें सरिता चंपक देसाई बिना बीमारी के बीमार बनकर सेनेटोरियम में जाती हैं जहाँ डॉक्टर संभवत: बीमार है। उसे जीवन के अत्यंत गंभीर और ऊबाऊ नाटक से बाहर लाती है और जीवन के सुंदर खेल से परिचित कराती है। खेल के कुछ नियम भ्रम, आशंकाएँ, जटिलता और अहम को दूर करने के लिए बनाए गए हैं। खेल का अनिवार्य हिस्सा दर्शक जो शिद्दत से उसका हिस्सा बनते हैं, कभी संवादों की अदायगी पर फुसफुसाहट करते हैं, कभी अवाक अपने पडोसी को चमकदार आँखों से अभिभूत करते और होते हैं। दिनेश ठाकुर के यथार्थवादी नाटक रूप, विद्या और चरित्र को इस तरह मंच पर रखते हैं कि ज़्यादातर वस्तुएँ गौण हो जाती हैं। उनके रंगकर्म में यह बात कहीं अधिक लागू होती है क्योंकि यहाँ सीधा संप्रेषण है। मंच पर जो दिखाया जाता है दर्शक उससे सीधा जुडता है।

मुम्बई में दिनेश भाई सहित बाकी के रंगकर्मियों का ऐसा मानना है कि अन्य भाषाओं के रंगकर्म को जैसा प्रतिसाद मुंबई में मिलना चाहिए वैसा हिंदी वालों को नहीं मिलता लेकिन यह एक अच्छी बात है कि दिनेश इससे नहीं हारे और लगातार चलते रहे। अंक की अब तक की यात्रा इसी रास्ते का प्रमाण है।

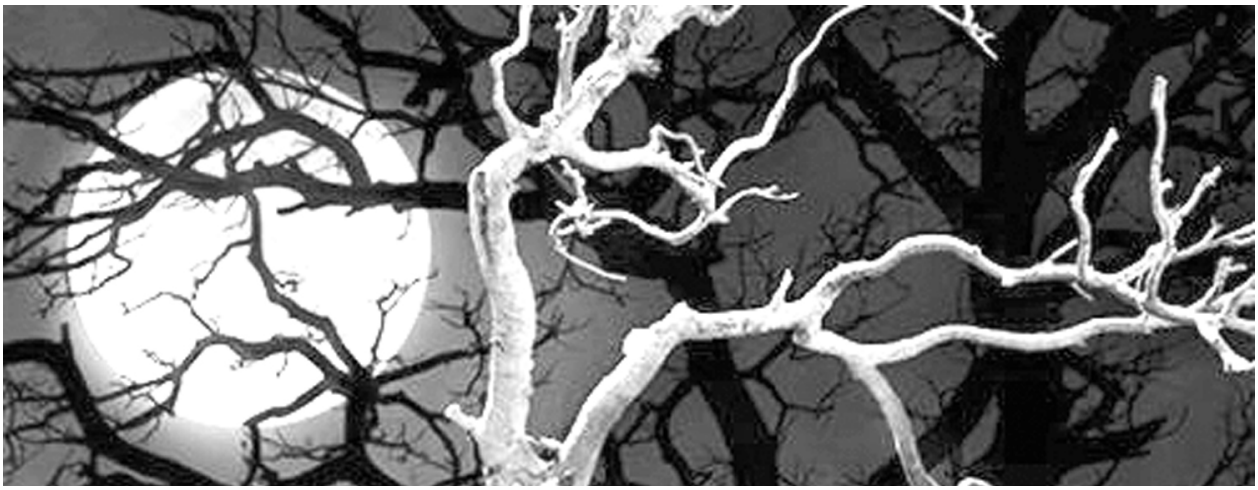

दिनेश ठाकुर की कविताएँ

धुआँ बना के फ़िज़ा में उड़ा दिया मुझको
मैं जल रहा था, किसी ने बुझा दिया मुझको।

●●●

दृश्य तो दृश्य
संवाद भी नहीं बचे
सब ज़र्रा ज़र्रा हो हवा में मिल गये।
हवा हमारी साँसों से छिन गई
मुस्कुराहटें बर्फ़ हो गईं और ज़र्द, और सख़्त
पर चमकती हैं अब भी!
पथराई आँखों में भी भाव पत्थर बन गड़े हैं।
इसी इंतज़ार में कि पलक झपके
तो दृश्य बदले।
यकसाँ हालात तो ज़िंदा नहीं होते।
और मुसलसल बेचैनी
सीने में दाँई से बाँई तरफ
थकी-सी ही सही, आती तो है।

●●●

कितनी बार कहा....

खुद से,
दूसरों से,
दूसरों का
बड़ों का सबका
कानों में पड़ते रहे स्वर
चुप कहाँ रहने देते?
काश! कम कह पाते
शायद कम सुन पाते।
साँस-साँस मुश्किल.....
कितना कुछ गुज़रता है चारों तरफ़

●●●

न सोने देता है
न चुप रहने देता है
बोलना भी तो कम पड़ता जा रहा है।
न शोर, न नारे, न आगज़नी,
और न ही चीखें - मौतें।
चीख़ने से मौत नहीं रुकती।

●●●

भटक गये संवाद।
साल भर से ज़्यादा हो गया....
संवाद भटक गये हैं।
किसके थे- कहाँ पहुँचे?
बेघर और उकड़ूँ
उखड़ी हुई जड़ें, दोबारा जी सकती हैं?
धीरे - धीरे रास्ता मिले
वो राह लगें
और मानी पैदा हों।

●●●

रफ़्तारे - ज़माना मैं तुझे देख रहा हूँ।
फिर लौट के आना, मैं तुझे देख रहा हूँ।

●●●

मुँह अंधेरे हर तरफ़ - एक ज़िंदगी !
बेदर्दी से घसीटी जातीं मशीनेंऽऽऽ..... पी पी की आवाजें
कुछ तेज कदम चहलकदमियाँ,
उड़ती - गिरती साँसें
और एक तीखी गंध
एक साँस फिर भी कहीं उलझी है,
राम जी, जै राम जी के स्वर
फिर यकायक शांति
नहीं, नहीं सन्नाटा !
सब ख़ामोश, न गंध और न साँस
और स्वर .....
ज़रा देर में ही उम्मीदों भरी कुछ चालें...
बाहर की ज़िंदगी की उम्मीद में आएँगी...
चादरें, तकिये के गिलाफ़ जायेंगे
बे बात मुस्कुराती हुई नर्सें
इधर उधर हर जगह!
सँभाल - सँवार की कोशिश .....
बीच बीच में साँस लेती हैं।

बाँह पर गुदे क्रॉस, ऊँ या अल्लाह
छू लेती हैं!
साँस लेते और छोड़ते हुए !
बँटती जाती है एक मशीनी उम्मीद!
चादरों की तरह बदलती ड्यूटियाँ,
साफ़ सुथरी, मुस्कुराती!
बेस्वाद, बेमानी, बेरंग खाने!
ज़िंदगी फिर भी है
ब्लड शुगर और ब्लड प्रेशर के बीच,
बादल, हवा, गरज और बिजली
और बारिश, सब खिड़की के बाहर,
क्या बचा कर ले जा सकेगी?
साँस, हवा या रात?
अकेले या साथ - सुबह तो होती ही है।

●●●

महीनों लम्बी ख़ामोशी के बाद
ये दो पल चख कर खुल भी गये तो क्या समझ में
आएगा कुछ भी।
घुटी हुई अनगिन बातें, रोज दम तोड़ती रहीं
समझी जाती रहीं
एक एहसास के पास से होकर गुज़रीं भी।
शायद कहीं उलझ कर तार तार भी हुई।
रात दर रात।
अब यकायक कितना शोर है
क्या कहा जाये ??
क्या न कहा जाये??
कहते - सुनते ही तो पूरा वक़्त बीता है।
ज़रा सी फ़ुरसत देगा कोई।
जी भर कुछ ना कह पाने की।
पलकें उठाकर, गिरा देतीं बस एक बार
बात हमेशा बनती रही है....
अब भी बन जायेगी।

आई.सी.यू. 23/9/2009

योद्धा रंगकर्मी

सुनील मिश्र

हाज़िर जवाब सूचना तंत्र और तमाम आधुनिक संदर्भात्मक उपस्थितियों के बीच दिनेश ठाकुर के निधन का समाचार बड़ी छोटी सी जगह में आता है। दिनेश ठाकुर कौन थे, पूरी तरह शायद कोई नहीं जानता होगा, लेकिन जो भी उन्हें जानते थे या उनके ऊपर से दिखाई देने वाले तल्ख स्वभाव के बावजूद उनके अन्तःस्थल के दूधिया खोपरे को देख-जान गए थे, उन्हें पता है कि दिनेश ठाकुर क्या थे? औपचारिक रूप से उनको जाने-समझे बग़ैर जो भी उनसे मिला, उसे वे बड़े तल्ख और खिन्न से महसूस होते थे, लेकिन वे रंगमंच में सर्वाधिक प्रतिबद्धता और सिनेमा में अपनी सीमित मगर विशिष्ट उपस्थिति में भी बहुआयामी थे।

यह बहुत सोचने वाली बात है कि हमारे बीच कला जगत में जीनियस उपस्थिति साठ पार की हो गई है। वे बहुत से महत्वपूर्ण लोग जो साहित्य, कला, संस्कृति, सिनेमा और ऐसे ही रचनात्मक माध्यमों में तीन-चार दशक पहले के अपने एक्सीलेंस से हतप्रभ किया करते थे, वे बढ़ती उम्र और हमारे स्मृति-लोप के बीच अचानक न रहकर हमें विचलित कर देते हैं। दिनेश ठाकुर लगभग चार साल से बीमार थे। उसके पहले वे भोपाल भारत भवन में अपने तीन नाटक लेकर आए थे। वहीं उनसे एक लंबी बातचीत हुई थी, जिसके लिए पहले वे तैयार नहीं थे मगर सवालों के साथ उस बातचीत से ऐसे जुड़ गए कि परस्पर अच्छे प्रभावों से साथ दो-ढाई घंटे कैसे गुज़र गए, पता ही नहीं चला।

दिनेश ठाकुर के सिनेमा का एक सीमित पीरियड है। हमें शायद गुलज़ार की फिल्म 'मेरे अपने' याद आ जाए जिसमें दाढ़ी वाला एक युवा जो सिगरेट पिया करता है और बात-बात में झगड़ने को आतुर हो जाता है। विनोद खन्ना की गुण्डा गैंग का हिस्सा बना यह युवक अपने सभी साथियों में अलग दिखाई भी देता है। चेन-स्मोकिंग दिनेश ठाकुर की हमेशा की आदत रही है जो बासु चटर्जी की फिल्म रजनीगंधा में भी दिखाई देती है। रजनीगंधा साठ के दशक के ऐसे सिनेमा का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी महक आम मध्यवर्ग जीवनशैली और सपनों को छूती हुई हमारे आसपास से गुज़रती है। दिनेश ठाकुर-बासु चटर्जी, गुलज़ार के बड़े करीब रहे। दरअसल यह दोस्तियां भी जीनियस लेवल की थीं जो साथ-साथ कभी-कभी काम करने के बावजूद खूब निभीं। गुलजार की मीरा में उन्होंने काम किया। बासु भट्टाचार्य की 'अनुभव' में काम करके ही उनको चार फिल्में और मिली थीं, जब वे दिल्ली से मुंबई इस फिल्म की सिल्वर जुबली सेलिब्रेट करने आये थे। फिल्में करते हुए ही वे फिर मुंबई में बस गये। 'परिणय' और 'आस्था' भी दिनेश ठाकुर की उल्लेखनीय फिल्में हैं। विनोद मेहरा और रेखा अभिनीत फिल्म 'घर' के लेखन के लिए उन्हें विशेष रूप से सराहा गया था, जो कि एक विवाहित जीवन में बलात्कार की त्रासदी को अत्यंत गहरी संवेदना के साथ देखती है। इस फिल्म को आलोचकों ने बेहद सराहा था।

दिनेश ठाकुर का सबसे बड़ा योगदान, जो शायद वे न जानते होंगे जो रंगप्रेमी न होंगे। वास्तव में अपनी-अपनी जगह पर हिन्दी रंगमंच की प्रतिष्ठा के लिए अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों में जिन विशिष्ट रंगकर्मियों का संघर्ष और योगदान रेखांकित होता है, उन कुछेक लोगों में दिनेश ठाकुर की भूमिका प्रमाणित होती है। जयपुर में जन्मे दिनेश ठाकुर ने युवा उम्र में अपने शहर में एक नाटक में छोटा सा रोल किया था, वही लगन उनको दिल्ली ले गई। दिल्ली में नाटक करते हुए फिल्मों के अनुबन्ध पर मुंबई आ गये, मगर फिल्में उनके लिए द्वितीयक ही रहीं और रंगमंच प्राथमिकता में शामिल हुआ।

मुंबई में नाटक करते हुए वे प्रीता माथुर से मिले जो बाद में उनकी जीवन संगिनी बनीं। दोनों ने साथ-साथ एक लंबा सफ़र तमाम ज़ोखिम उठाते हुए पूरा किया।आधे-अधूरे, मोहन राकेश का लिखा नाटक जिसमें उनकी अहम भूमिका थी, बड़ा कामयाब रहा था। बाद में तो वे रंग-रस में ऐसे डूबे कि सिनेमा को ही भूल गये। उनके यादगार नाटकों में 'हाय मेरा दिल, बीवियों का मदरसा, काग़ज़ की दीवार, एन्टीगनी, कमला' शामिल हैं। कुछ वर्ष पहले उनकी संस्था 'अंक' ने पैंतीस साल पूरे किए थे।

दिनेश ठाकुर के कुछेक नजदीकी मित्र ही ऐसे हैं जो उनके काम और उनके जीवटपन को बखूबी जानते रहे हैं। वरिष्ठ कला और फिल्म समीक्षक प्रयाग शुक्ल उनके गहरे मित्र रहे हैं, उन्होंने दिनेश ठाकुर के व्यक्तित्व और काम पर कई बार इतने सलीके और संवेदना के साथ लिखा है कि उसे ही पढ़ते हुए दूर से टफ दिखाई देने वाले रंगकर्मी से तबीयत से बात करने का मन हुआ था। दिनेश ठाकुर के न रहने पर वह सान्निध्य ताजा हो रहा है। वे दरअसल ज़िन्दगी और उसकी सार्थकता के बीच जिद्दी किस्म की जेहाद लगातार करते रहे हैं अपने जीवन में। जीवन के क्षणभंगुर यथार्थ में उनकी कालजयता को यूँ ही बिना जाने विस्मृत नहीं किया जा सकता।

एक स्मृति-यात्रा

डॉली ठाकोर

जब कोई किसी को लगभग 40 वर्षों से जानता, समझता, साथ उठता-बैठता, अभिनय करता और आलोचना करता है तब यह मित्रता पूरी तरह बन्धनमुक्त होती है। मेरी दिनेश ठाकुर के साथ ऐसी ही मैत्री रही है जिनकी ओर से समय-समय पर आने वाली फोन की घण्टियों की मैं हमेशा प्रतीक्षा करती रही हूँ।

शुरुआती दशकों की रंगमंच की एक समीक्षक होने के नाते, और 1976 से 'अंक' की हर नई प्रस्तुति में उपस्थित होने और खुद एक अभिनेत्री होने के नाते-जिसे दिनेश ने हिन्दी नाटक 'तुम क्या जानो प्रीत' में एक शरारा पहनने वाली, सिगरेट पीने वाली अत्याधुनिक लखनवी बेगम की भूमिका दी थी। मैं दिनेश के साथ भावनात्मक मैत्री की हमेशा कद्र करती रही हूँ। वर्षों तक दिनेश ठाकुर के कारख़ाने से जो प्रतिभाएँ निकलती रही हैं- उनमें कई उत्कृष्ट प्रतिभाएँ हैं। पर, कोई भी उनकी प्रमुख अभिनेत्री मीनाक्षी की बराबरी नहीं कर सकती। उसकी हर प्रस्तुति को उनकी उपस्थिति अधिक जीवन्त और प्रभावोत्पादक बना देती है। लेकिन किसी के जीवन में आए उतार-चढ़ाव भी अपनी कीमत वसूलते हैं।

1981 में मैंने अनन्त महादेवन को पोलिनियस की भूमिका में देखकर लॉफेबल हेमलेट लिखकर ख़ारिज कर दिया था। इसने रंगमंच की अपनी सारी अक्षमताओं को दूर किया और अंक का समर्थ परिश्रमी अभिनेता बना।

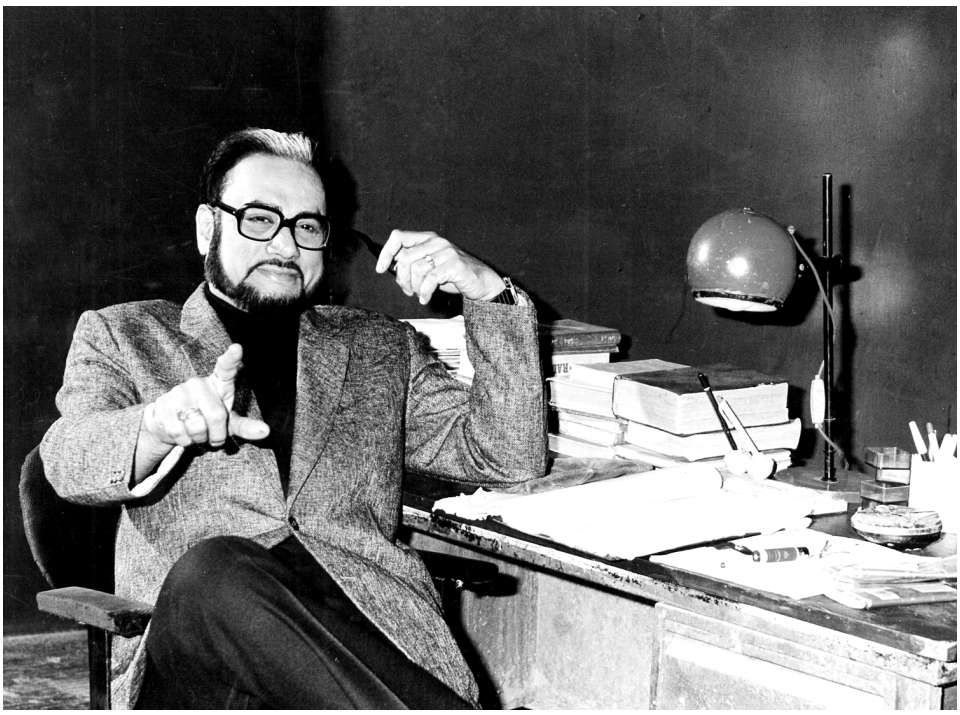

गोगोल के इन्सपेक्टर जनरल के रूपान्तर 'आला अफसर' में, आर्थर मिलर के 'द प्राइस', बादल सरकार के 'पगला घोड़ा' की यादगार भूमिकाएँ सामने आती हैं, जब मैं उनके कैरियर की समीक्षा करने बैठती हूँ। इस अभिनेता ने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन विभिध भूमिकाओं में किया है। दिनेश ठाकुर के अन्य अभिनेताओं में शंकर अय्यर, शेख सामी उस्मान, एस.सी. माखीजा हैं। माखीजा इसके संस्थापक सदस्यों में हैं जो अंक छोड़कर किसी और दल में चले गए थे और 16 वर्षों बाद फिर अंक के विजय तेंडुलकर महोत्सव के लिए लौटे। ब्रजभूषण साहनी और नरेश सूरी जैसे अभिनेताओं ने भी अंक में अपनी रंगमंचीय महत्वाकांक्षाएँ पाईं। भले ही इनको कितने ही फ़िल्म और टी.वी. पुरस्कार मिल जाएँ, इनकी रंगमंचीय उपलब्धियों को भूलना आसान न होगा। बावजूद दिनेश ठाकुर के इस विलाप के कि प्रायोजकों और धन की कमी है, और हिन्दी रंगमंच के साथ सौतेला व्यवहार किया जाता है, उनके नाटकों में शानदार सैट होता है, मेकअप होता है, पोशाकें होती हैं और सब तामझाम होता है।

मार्च, 1984 में अंक के रंगोत्सव में छह नाटक थे। प्रथम प्रस्तुति के रूप में मोलियर का प्रहसन 'द माईजर' था जिसका निर्देशन बंसी कौल ने किया था। और इसमें मीनाक्षी ठाकुर का निभाया गुलाबी बूढ़ी महिला फ़रज़ीना का अविस्मरणीय किरदार मैं भूल नहीं सकती। उसके सफेद बाल, लाल भौंहें और बौने जैसी उसकी झुकी-झुकी-सी चाल बीसवीं शताब्दी के शुरू के हवाई खिलौनों की याद दिलाते हैं। डोनाल्ड डक जैसी उसकी भूमिका ने सख़ावत की दावत का हर मिनट मूल्यवान बना दिया था। बाद में अक्टूबर, 1984 में अंक ने 19 दिन के समारोह की शुरुआत वसन्त देव द्वारा हिन्दी में अनूदित विजय तेंडुलकर के 'जात ही पूछो साधु की' से की

और 'हमने देखे उस समय के महारथी' नरेश सूरी, ब्रजभूषण साहनी, एस.सी. माखीजा, डेज़ी ईरानी, राजेश पुरी-सब एक साथ, एक मंच पर। अंक ने हमेशा ऐसी पटकथाएँ चुनीं जिनमें भावनाएँ हों और अपने समय की धड़कन हो। देहाती मिट्टी का बना, आज के बच्चे कल के नेता, खेलकूद जैसे सन्दर्भ और कॉलेज के पीछे शराब की भट्टी ऐसे समसामयिक सन्दर्भ हैं, जो अंक अपने नाटकों में उठाता है, अपने नाटकों और प्रस्तुतियों से।

मैंने अपनी व्यक्तिगत रुचि के कारण अंक की कॉमेडी को खारिज किया है। दिनेश ठाकुर जनता की नब्ज़ पर उँगली रखते हैं और बॉक्स ऑफिस पर भी। हम केवल 'जिस लाहौर नहिं देख्या वो...' पर ही निर्भर नहीं रह सकते-जो कि मेरा पसन्दीदा नाटक है, जिसके गुजराती के 35 प्रदर्शनों सहित कुल 93 प्रदर्शन हुए हैं।

अंक ने अपने अभिनेताओं और दर्शकों को फ्रेंच, जर्मन, रूसी, अंग्रेज़ी, अमेरिकी लेखन, विचारों, भावनाओं परम्पराओं, विदेशी रीति-रिवाजों से अनुवादों और शानदार रूपान्तरों के माध्यम से परिचित कराया। किसी भी विद्यार्थी या विद्वान के लिए समाज के तौर-तरीकों को समझने में यह बहुत मूल्यवान होता है। हमारे सभी प्रमुख नाटककारों से भी इसने हमारा परिचय कराया-चाहे वे कोलकाता के बादल सरकार हों, कर्नाटक के गिरीश कारनाड और ब.व. कारन्त हों, महाराष्ट्र के विजय तेंडुलकर, सतीश आलेकर और महेश एलकुंचवार हों, मन्नू भण्डारी का 'महाभोज' हो और असगर वज़ाहत का 'जिस लाहौर नहिं देख्या...' हो। युवाओं में नए संसार की नई समझ को बढ़ाया। एक समय था, जब मैं हर सम्भावनाशील अभिनेता को प्रशिक्षण और अनुभव के लिए अंक में भेजती थी। लेकिन अब वाणिज्य और अर्थशास्त्र, जोश और आवेग पर हावी हो गया है। कई अभिनेता निरर्थक टी.वी. शूटिंगों में अपना समय बरबाद करते हैं ताकि वे मकान-किराया और खाना जुटा सकें। इससे नाटक करने वालों को बड़ी तकलीफ़ होती है। रंगमंच आपको ग़रीबी रेखा से नीचे रखता है, जब तक कि आपके पास बाप का पैसा न हो। इस कारण अंक को मजबूर होकर कठोर अनुबन्ध बनाना पड़ा ताकि लोग नाटक सीखकर उसे छोड़कर न चले जाएँ। उसके पास छोटे-छोटे कस्बों से ताज़ी प्रतिभाएँ आईं। इन पर अंक की छाप है, जो किसी भी त्याग के लिए तैयार हैं। अंक की सफलता और इतने वर्षों तक बने रहने की ताक़त के साथ कोई भी तानाशाह हो सकता है। और दिनेश ठाकुर को भी अपेक्षित परिणाम और अनुशासन पाने के लिए ऐसा करना पड़ा है। प्रतियोगिता का अभाव रहता है। अहं का टकराव और उत्तेजना केवल अभिनेताओं को ही नहीं होती है। इसके बावजूद अंक 40 वर्ष पुरानी शराब हो गया है।

रंगमंच आपको ग़रीबी रेखा से नीचे रखता है, जब तक कि आपके पास बाप का पैसा न हो। इस कारण अंक को मजबूर होकर कठोर अनुबन्ध बनाना पड़ा ताकि लोग नाटक सीखकर उसे छोड़कर न चले जाएँ। उसके पास छोटे-छोटे कस्बों से ताज़ी प्रतिभाएँ आईं। इन पर अंक की छाप है, जो किसी भी त्याग के लिए तैयार हैं। अंक की सफलता और इतने वर्षों तक बने रहने की ताक़त के साथ कोई भी तानाशाह हो सकता है। और दिनेश ठाकुर को भी अपेक्षित परिणाम और अनुशासन पाने के लिए ऐसा करना पड़ा है।

तारीखों की कमी जैसी समस्याओं ने भी अंक को अपनी वर्षगाँठ मनाने से रोका नहीं है। वह अपने वार्षिक समारोह या किसी लेखक/नाटककार/निर्देशक की वर्षगाँठ भी उतने ही उत्साह से मनाता आया है।

हाल के वर्षों में अंक को भी दो-चार अभिनेताओं से ही काम चलाना पड़ा है। और प्रीता माथुर तथा दिनेश ठाकुर जैसी और कौन-सी जोड़ी होगी। मैं किसी और को नहीं जानती, जो इस तरह नाटक के साथ इतनी श्रद्धा-भक्ति के साथ जुड़ा हो। यह ज़रूरत से ज़्यादा रंगमंच के प्रति उनका समर्पण भाव ही दिखता है। उन्होंने अपनी अथक ऊर्जा और अनथक परिश्रम से तुग़लक़, अंजी, बीवियों का मदरसा, भागम भाग, हाय मेरा दिल (एक हज़ार सत्रहवाँ प्रदर्शन) जैसी बीते वर्षों की प्रस्तुतियों को जिस तरह फिर से पुनर्जीवित किया है, उसके लिए अलग ही प्रकार का स्टेमिना चाहिए। नाट्य-समीक्षा के शुरू के वर्षों में मैं इन नाटकों के बारे में अच्छी राय नहीं रखती थी। लेकिन 'हाय मेरा दिल' की एक हज़ारवीं प्रस्तुति मैंने देखी और कॉमेडी के प्रति मेरे पूर्वाग्रह के लिए मैंने माफ़ी माँगी। जो एक हज़ारवें प्रदर्शन में भी हाउसफुल हो, उसमें कुछ तो ख़ास बात होगी ही। मुझे खुशी है कि दिनेश ठाकुर ने इसके एक हज़ारवें प्रदर्शन के दौरान मुझे याद रखा।

यहाँ यह उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा कि लगभग चालीस वर्ष तक जो रंगमंच में लगा रहता है उसका असर सम्बन्धों, स्वास्थ्य और शरीर पर पड़ता है। जिम जाने की और आवाज़ की रियाज़ से दिनेश 25 से 60 बरस तक की ईर्ष्याजनक भूमिकाएँ कर लेते हैं। अब तक उनको कोई नहीं हरा पाया है। अस्पताल में भी नाट्य-पाठ चलता रहता है। विश्वस्त अभिनेता निर्देशक दिनेश ठाकुर से बिस्तर पर पड़े-पड़े भी नाट्य-निर्देश लेते रहे हैं। प्रीता तो एक उपलब्धि है- केवल नाटक और दर्शकों के लिए ही नहीं, बल्कि दिनेश ठाकुर और अंक के लिए भी। हम इन दोनों की देखभाल करने के लिए उन पर निर्भर हैं। उन्होंने नाटक में और मंच के बाहर भी उल्लेखनीय कार्य किया है। मैं इसके लिए उनको और अंक को इस तरह के कई और समारोह करने की शुभकामनाएँ देती हूँ।

यादों में अब भी ताज़ा है वो चेहरा!

●●●

वो कला फिल्मों का दौर था जब पहली पहली बार हिन्दी की एक महत्वपूर्ण कहानी पर बनी 'रजनीगंधा' जैसी कला फिल्म में दिनेश ठाकुर को देखा था। दुबला-पतला नौजवान। चेहरे पर दाढ़ी कहीं बहुत भीतर तक झांकती हुई आँखें, एक संवेदनशील व्यक्ति जिसे देखते ही लगा था कि बहुत दिन बाद फिल्मों के चमकदार पर्दे पर एक कलाकार को देख रहे हैं।

हालांकि इससे पहले या इसके आसपास ही 'मेरे अपने' और 'अनुभव' में भी उसे देख चुका था। फिर इस बात को बहुत दिन हो गये। अचानक नाटक के अभिनेता और निर्देशक दिनेश ठाकुर से मुलाकात हो गयी। तब तक दिनेश का हुलिया काफी बदल चुका था। एक दिन दिनेश का लम्बा सा पत्र आया। वह मेरा नाटक 'अच्छे आदमी' करना चाहता था। पत्र में बहुत सारी घोषणायें थी। हजारों प्रदर्शन करने की। पत्र का जवाब तो मैंने तत्काल दे दिया। दिनेश से तब तक मित्रता हो चुकी थी। कई दिन बाद फिर मुलाकात हुई तो दिनेश ने कहा कि यार बंसी से कहो कि हमारे लिये तुम्हारा नाटक- 'अच्छे आदमी' डायरेक्ट कर दे। वह नाटक मेरे बस का नहीं। शायद वह उसके मिजाज का नहीं था। दिनेश महाराष्ट्र और वह भी मुंबई के दबाव में कुछ ऐसा नाटक कर रहे थे जो स्क्रिप्ट में तो आधुनिक नाटक था, लेकिन वो करते उसे कामर्शियल ढंग से थे। हालांकि मैंने उसके बहुत नाटक नहीं देखे। एक मुलाकात में उसने कहा कि मुंबई में नाटक करना एक मंहगा काम है। कलाकारों को भी पैसे देना होता है। रिहर्सल की जगह के लिये भी पैसे चाहियें। ढेर तमाम खर्चे हैं। कई दिन बाद वह एक नाटक भोपाल लेकर आया था। एक विदेशी नाटक का अनुवाद था। (उसका नाम इस समय याद नहीं आ रहा) उसका सेट बहुत कामर्शियल ढंग से सजा हुआ था। दिनेश उसमें मुख्य भूमिका में था। दिनेश मोटे हो गये थे। उसकी आवाज़ में भी एक अजीब सी खरखराहट आ गयी थी। नाटक के बाद हम लोग शायद बंसी के घर में बैठे थे। रस रंजन और खाना वहीं हुआ। ऐसी ही कुछ छोटी-मोटी सी मुलाकातें उससे होती रहीं। लेकिन उसके व्यक्तित्व में ऐसा कुछ अपना सा था कि वह कभी याद से ओझल नहीं होता।

राजेश जोशी (कवि, नाटककार)

●●●

जहाँ तक मुझे याद आता है दिनेश ठाकुर ने ओम शिवपुरी के निर्देशन में हुए नाटक 'आधे अधूरे' से अपने रंगकर्म की शुरूआत की थी। फिर दिल्ली से चलकर मुंबई आने और 'अंक' की स्थापना से लेकर अब तक का उनका काम इतिहास बन चुका है। दिनेश की सबसे बड़ी खूबी साहित्यिक नाटकों के मंचन को लेकर उनका किया काम है। उनसे अक्सर मुलाकातें और बातें होती रहती। भोपाल के दर्शक और यहाँ नाटक करने की अपनी इच्छा हमेशा मुझसे साझा करते। भारत भवन रंगमंडल के निदेशक रहने के मेरे कार्यकाल के दौरान हमने उन्हें उनकी तीन नाट्य प्रस्तुतियों के साथ आमंत्रित किया था। दर्शकों के प्यार से बहुत अभिभूत हुए थे। एक बार का वाक़या याद आता है जब नाटक शुरू होने के उपरांत भी दर्शक सभागार में चले आ रहे थे और वो अभिनय कर रहे थे। उनका ध्यान भंग हो रहा था तो बीच नाटक में ही उन्होंने दर्शकों की इस हरकत को लेकर अपनी नाराज़गी ज़ाहिर की थी। मेरे ख्याल से नाटक के लिए लगातार सोचते रहने और चिंतित रहने की उनकी मंशा ने एक गंभीर रंगकर्मी की उनकी छवि को गढ़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सतीश मेहता (रंग-निर्देशक)

●●●

युवा रंगकर्मियों के लिए, खासकर भोपाल में बाहर से आए रंगकर्मी और उनके नाटक कौतूहल का विषय होते हैं। दिनेश जी वैसे भी किसी परिचय के मोहताज नहीं, और उनकी फ़िल्मों को देख कर उनकी अभिनेता छवि ने यूं भी मुतासिर ही किया था। अभिनय की अपनी सीखने की ललक और रंगकर्म के प्रति प्रेम ने मुझे दिनेश जी

की उस छवि ने प्रभावित किया जब लेखन के लिए फिल्मफेयर सहित दर्जनों नामी फ़िल्मों/फ़िल्मकारों और मुंबई जैसे शहर में रहने के बावजूद उन्होंने थिएटर को अपनी ज़िंदगी चुना। इस नाते मेरे मन में उनके लिए सम्मान कहीं ज़्यादा है। उनके भोपाल आने पर मुझे उनके नाटक देखने का मौक़ा मिला और 'अंक' के निदेशक होने के बावजूद अभिनेता के नाते उनका समर्पण मेरे लिए सीख-सबक हैं। भोपाल और भारत भवन में नाटक करने की उनकी इच्छा को मैंने उन्हीं के द्वारा अपने पत्रकार मित्रों से बात करते हुए सुना, जिससे भोपाल के प्रति उनका प्रेम ज़ाहिर होता है। एक सफल रंगकर्मी और फ़िल्मों में अक्सर सशक्त चरित्र भूमिका निभाने वाले दिनेश ठाकुर असल जीवन में 'सोलो एक्टर' थे जिन्होंने अपने कंधों पर रंगकर्म की गरिमा को बादशाह के चरित्र की भांति उठा रखा था।

योगेश परिहार (युवा अभिनेता)

●●●

दिनेश जी मेरे ज़ेहन में एक बेहतरीन अभिनेता की तरह हमेशा से रहे हैं। मैंने उनके दो नाटक देखे हैं एक उनके देहान्त के कुछ पहले और एक बहुत सालों पहले रंगमंडल में काम करते हुए। दिनेश जी बहुत ही अच्छे कलाकार थे और उनके अभिनय की बारीकियों ने मुझे बहुत प्रभावित किया। उनकी आवाज़ और साफ उच्चारण, संवाद की प्रस्तुति और खासकर उनकी आँखें अभिनय की खूबी थी। रियलिस्टिक एक्टिंग वाकई क्या होती है, वो आप दिनेश जी के अभिनय से सीख सकते हैं। वे हर समय पूर्णतः एक थिएट्रिकल पर्सनालिटी थे। अच्छे अभिनेता होने के साथ ही दिनेश जी ने रंगमंच को बहुत कुछ दिया भी है। हिंदुस्तान में जब भी रंगमंच की बात हुई है तब दिनेश ठाकुर और उनके रंग समूह 'अंक' का नाम बहुत सम्मान से लिया जाता रहा हैद्य खासकर उस समय, जिसे कारंत जी रंग आंदोलन कहते थे, दिनेश ठाकुर ने अपनी ज़रूरी उपस्थिती दी है।

शोभा चटर्जी (रंगकर्मी)

●●●

दिनेश जी के साथ काम करने का सौभाग्य तो मुझे नहीं मिला लेकिन उनके बहुत से नाटक देखने का मौका मिला और उनसे संवाद भी बना रहा। दिनेश ठाकुर भारतीय रंगमंच में एक ऐसा नाम है जिनका ज़िक्र कई मानों में हमेशा ज़रूरी रहेगा। मुंबई जैसे शहर में जहां लोग थिएटर को फिल्मों तक पहुँचने की सीढ़ी समझ कर किया करते थे, उस समय और उस जगह दिनेश जी ने रंगमंच के लिए बहुत ही संजीदगी से काम किया। वे टीवी और फिल्म भी करते रहे लेकिन रंगमंच उनके लिए साइड वर्क नहीं था बल्कि वही सब कुछ था। दिनेश जी भाषा के लिए भी बहुत संवेदनशील थे और साहित्य पढ़ते-लिखते रहने का प्रतिफल उनके विचारों, उनकी भाषा और साफ ज़ुबान पर दिखता था। हिन्दी रंगमंच में दिनेश जी का बहुत बड़ा योगदान है। मैं मानता हूँ कि हिन्दी भाषा और रंगमंच के लिए दिनेश जी का काम न सिर्फ सराहनीय रहा है बल्कि वे एक ऐसे दौर के अहम हस्ताक्षर है जहां थिएटर को उनकी वाकई में बहुत ज़रूरत थी।

अनूप जोशी (अभिनेता व रंगकर्मी)

●●●

दिनेश जी के नाटक देखने का मौका कभी मिला नहीं लेकिन उनसे मुलाक़ात ज़रूर रही। हम अच्छे मित्र रहे हैं, उनसे कई बार मिलना भी हुआ और फोन पर भी बातें होती रहीं। उनसे बात करते हुए हमेशा महसूस हुआ कि वे रंगमंच के बारे में लगातार विचार करते हैं और रंगमंच के प्रति दिनेश जी का समर्पण बहुत गहरा था। वे एक अच्छे अभिनेता तो थे ही, इसके साथ वे ये भी जानते थे कि उनका माध्यम दरअसल रंगमंच भी है। टीवी और फिल्मों में अभिनय करने के बावजूद दिनेश जी की रंगमंच में सक्रिय भूमिका उनकी समझ प्रेषित करती है। जैसा कि कहा और माना जाता है कि रंगमंच में अभिनेता भी ब्रह्माण्ड का रचयिता होता है, ये बात दिनेश जी एक अभिनेता के नाते बखूबी समझते थे और इसीलिए वे एक अभिनेता के प्रशिक्षण पर भी ज़ोर देते थे।

संगीता गुन्देचा (संस्कृतिकर्मी)

●●●

भोपाल में पिछले कई वर्षों से इफ़्तेखार नाट्य समारोह के बहाने देश के प्रमुख रंगकर्मियों और नाट्य-दलों को भोपाल में प्रस्तुत करने का अवसर मिलता रहा है। पर मुझे इस बात का मलाल हमेशा रहेगा कि रंग-जगत की महत्त्वपूर्ण हस्ती दिनेश ठाकुर या उनके नाट्य-समूह 'अंक' को हम इस समारोह में प्रस्तुत न कर सके। हालांकि उनसे इस बाबत बात हमेशा होती रहती। भोपाल में वो जब भी आते तब उनसे मुलाक़ात होती ही और वो यहाँ आने के लिए हमेशा ही उत्सुक रहते। मुंबई में 'पृथ्वी थिएटर में भी कई मर्तबा उनसे मिलना हुआ। वो हमेशा भोपाल के रंगकर्म के हाल-चाल पूछते और यहाँ आने, नाटक करने की अपनी मंशा हमेशा साझा करते। भारत भवन जैसे मंच की बात निकलने पर ही उनकी आँखों में चमक दिखती थी और उन्होंने हर बातचीत में ये ही ज़ाहिर किया कि इस जैसा मंच देश में और कहीं नहीं। मुझे लगता है कि मुंबई में रहकर, फिल्मों से जुड़े होकर भी उसकी चमक-दमक से दूर अंतिम समय तक उनका लगाव थिएटर से रहा, यह बात ही अपने आप में मिसाल है। मुझे लगता है युवा रंगकर्मियों की हौसला अफ़ज़ाई और मुंबई में हिन्दी रंगमंच करते रहने की ज़िद और जद्दोजहद के लिए वे हमेशा याद रखे जाएँगे।

हमीदुल्लाह 'मामू' (रंगकर्मी)

भोपाल में 'अंक' की इस रंग यात्रा के लिए 'विहान' अब तैयार है। खुशी भी है, कुछ चिंता भी पर सबसे बड़ा संतोष इस बात का कि जिस तरीके से प्रीताजी ने दिनेशजी का परिचय हमसे करवाया था उसे सोचकर लगता है कि उनके सपने में 'विहान' अपने नन्हें क़दमों से कुछ दूर तो साथ चल ही सका है। यह आयोजन अब एक रंग मनीषी के प्रति न केवल हमारी ओर से आदरंजलि है बल्कि उनके सम्मान और 'अंक' की 40 वर्षों की रंगयात्रा के इतिहास में हमारी छोटी-सी हिस्सेदारी भी और अपने वरिष्ठों को नवाज़ने की ज़िम्मेदारी भी। भारत भवन की चौखट इंतज़ार कर रही हैं।

यह जुगलबंदी 'अंक' और 'विहान' की

सुदीप सोहनी

यूं 'विहान' का रिश्ता दिनेशजी से सीधे तौर पर कभी नहीं रहा। पर उड़ती हुई ख़बरों और थिएटर करने की शुरुआती ज़िदों के पार्श्व में 'अंक' और उनके नाम की गूँज अक्सर बातों में होती थी। मुंबई के अपने दिनों में मैंने 'पृथ्वी थिएटर' में दिनेशजी को एक बार देखा था। शायद ये उनके अंतिम दिनों की बात होगी जब बीमारी से जूझते हुए दिनों में भी नाटक देखने वो आए थे और उनका क़द इतना भी था कि जो जहां बैठा था उनके गुज़रते हुए वो वहाँ खड़े होकर उनका अभिवादन कर रहा था। एक और रिश्ता 'विहान' के हमारे अभिनेता साथी राहुल जाधव का भी बनता है जिसने हबीब साहब जैसी मक़बूल शख़्सियत के साथ काम करने के बाद मुंबई में अपनी थिएटर की ज़मीन को तलाश करने के लिए उनके ही सुझाव पर दिनेश जी और 'अंक' के साथ कुछ नाटकों में काम किया। इस रिश्ते का सबूत हमें तब मिला जब भोपाल आने पर प्रीताजी और अमन भाई ('अंक' के वरिष्ठ अभिनेता) ने हमारे साथ हुए एक बातचीत सत्र में राहुल को देखते ही पहचान लिया और बहुत प्रेम से उन दिनों को याद करते हुए राहुल से 'अंक' की उस रवायत के बारे में पूछा जिसमें दिनेश जी के साथ काम करने वालों को 'प्रसाद' मिलता है। (दिनेश जी के हाथ का चांटा जो वो अपने प्रिय अभिनेताओं को रसीद करते थे और जो उनके अभिनेताओं के लिए आशीर्वाद की तरह होता था और जिसका जवाब राहुल ने भी 'हाँ' में ही दिया)।

यह शायद 2016 की ढलती मई की गर्मियों की बात है। म.प्र. संस्कृति महकमें के आनंद सिन्हा का अचानक फोन आता है। वे अपने दफ्तर में हमें मिलने के लिए बुलाते हैं। नाटकों से उनकी दिलचस्पी छिपी नहीं है। बातों-बातों में ही वे हमसे (सौरभ अनंत और मुझसे) हमारे चल रहे कामों और 'विहान' की व्यस्तताओं के विषय में बात करते हुए 'अंक' का ज़िक्र करते हैं, साथ ही यह भी बताते हैं कि दिनेश ठाकुर जी की स्मृति और 'अंक' की रंग यात्रा के 40 वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष्य में प्रीता ठाकुर एक नाट्य महोत्सव का आयोजन सितंबर माह में भोपाल में करना चाहती हैं। इस इशारे के बाद आनंद जी हमारा मन टटोलना चाहते हैं कि क्या 'विहान' इस ज़िम्मेदारी के लिए तैयार है? हालांकि उन्हें पूरी उम्मीद है कि इस नाट्य महोत्सव के लिए हम बेहतर तरीके के मेजबान और सहयोगी हो सकते हैं। वो हमें ये भी बताते हैं कि उनकी भूमिका केवल इतनी ही होगी और यहाँ से आगे का सफ़र 'विहान' को 'अंक' के साथ मिलकर करना होगा। हम दोनों कुछ संशय और संतोष। संशय यह कि 'अंक' का नाम हमने सुन रखा है और मुंबई से आकर यहाँ किसी नाट्य उत्सव की परिकल्पना से लेकर उसके सम्पन्न होने तक का दबाव और दायित्व हमारा होगा, साथ ही संतोष इस बात का कि 'अंक' से उम्र में लगभग 35 वर्ष छोटे 'विहान' को इस ज़िम्मेदारी तथा साथ के लिए चुनना हमारी पूरी टीम और हमारे लिए सम्मान का विषय है। कुछ समय हम इसी उधेडबुन में रहते हैं कि करें या ना करें। इस बीच हमारे नाटकों की रिहर्सल और दूसरे अन्य काम ज़ोर-शोर से चल रहे हैं। आनंद जी कुछ हफ्तों हमसे अपनी राय जानना चाहते हैं ताकि वो इस महोत्सव को करवाने में एक सहयोगी-संगी का नाम सुझा सकें। कुछ सोचने के बाद हम उन्हें हाँ कह देते हैं। हमने हाँ कह तो दिया पर उसी पल से एक चिंता शुरू हो गई कि अब बात के माने बदल जाते हैं और अब हमें अपने काम को उसी तरीक़े से करना पड़ेगा ताकि हम न केवल एक फेस्टिवल या उत्सव को वह रूप दे सकें बल्कि 'अंक' के साथ जुड़े हुए नाम दिनेश ठाकुर के क़द को भी बरक़रार रख सकें। अचानक दिनेश जी की फिल्मों में देखी हुई छवि मानस में तैरने लगती है।

बहरहाल, इस समागम के लिए हमारी सहमति के बाद प्रीता जी से फोन पर एक लंबी बातचीत हमारा इंतज़ार कर रही थी। कुछ दिनों बाद ही प्रीता जा का मुंबई से फोन आता है और हमसे 'विहान' के काम के बारे में जानने के बाद वे एक लंबी और आत्मीयता से भरी बातचीत में 'दिनेश जी' और 'अंक' के उस रंग-महोत्सव का ज़िक्र करती हैं, जिसकी शुरुआत भोपाल से होनी है और जिसके लिए हम उनके सहयोगी होंगे। जितने स्नेह से वो इस बातचीत और कार्यक्रम

की रूपरेखा के विषय में हमें बताती हैं, उतनी ही गंभीरता से हमारे सुझावों और बातों को भी सुनती हैं। पर केवल इतना ही नहीं, कुछ दिनों बाद जब अमन भाई और प्रीता जी भोपाल आते हैं तब उनसे मिलकर इस कार्यक्रम के विषय में जो बातचीत होती है उसमें हम पाते हैं कि भले ही 'अंक' यह उत्सव 'विहान' के साथ मिलकर करेगा पर दरअसल यह रंग-इतिहास के एक सशक्त हस्ताक्षर दिनेश ठाकुर के साथ हमारे कहीं किसी समय बने हुए रूहानी रिश्ते की कड़ी भी होगा। फिर एक बातचीत-सत्र 'विहान' के साथी अभिनेताओं के साथ होती है और हम पाते हैं कि दिनेश जी 'अंक' की नींव और आत्मा में इस क़दर हैं कि उनके सारे अभिनेता उनकी गुरु की छवि को आज भी नतमस्तक हो कर आदर पूर्वक याद करते हैं। प्रीता जी और अमन भाई की सहृदयता और दिनेश जी के प्रति श्रद्धा ने उस पल भावुक भी कर दिया, साथ ही सीख-समझ का वो पाठ भी कि कला में विनय की क्या अहमियत है! बस, उस पल से इस महोत्सव को आयोजित करने का बचा-खुचा संशय भी जाता रहा और मन में केवल एक ललक होने लगी- कैसे भी कर के इस उत्सव को हमें दिनेश जी के लिए करना है। अचानक से 'विहान' और दिनेश जी के बीच एक अनकहा रिश्ता-सा नज़र आने लगा। हालांकि, तैयारियों के बीच बार-बार दिनेश जी की वही सिनेमाई छवि कौंधती रहती या प्रीता जी की कही हुई बातें रंगकर्म की 'विहान' की अपनी ज़िद को और संबल ही प्रदान करती।

देखते-देखते चार महीने बीत जाते हैं, इस बीच कई फोन कॉल्स, अनगिनत बातें, सुझाव, सलाह, मशविरे और धीरे-धीरे उत्सव की परिकल्पना आकार लेने लगती है। इस आयोजन में 'अंक' की तीन नाट्य प्रस्तुतियाँ- 'अंजी', 'रविन्द्रांजलि' और 'अटके भटके लटके सुर' के साथ ही 'विहान' के बहुचर्चित नाटक 'हास्यचूडामणि' के मंचन भी होने हैं। कठिन राहों के रंगकर्म से लेकर दिनेश ठाकुर और नई रंगभाषा की चुनौतियों पर केन्द्रित संवाद-सत्र में देवेन्द्र राज अंकुर, बंसी कौल, अतुल तिवारी, मकरंद देशपांडे, उदयन वाजपेयी, संगीता गुंदेचा, राजेश जोशी, आलोक चटर्जी जैसे महत्त्वपूर्ण नाम हिस्सा ले रहे हैं। प्रीता जी का कहना तो यह भी है कि हमें भी अपनी बात इस मंच और दिग्गजों के बीच रखनी है। ख्यात रंग-समीक्षक प्रयाग शुक्ल इस सत्र को अपनी मेधा से संचालित कर रहें हैं। कला समीक्षक और उद्घोषक विनय उपाध्याय मंच परे अपनी धीर-गंभीर आवाज़ के साथ पार्श्व-स्वर और उद्घोषणा के सूत्र संभाल रहे हैं। यहाँ वनमाली सृजनपीठ के अध्यक्ष और कवि-कथाकार संतोष चौबे की सदाशयता का ज़िक्र भी ज़रूरी है जिन्होंने 'रंग संवाद' के इस दस्तावेज़ी अंक के संपादन प्रकाशन की सहमति प्रदान की। और संपादक विनय उपाध्याय ने अपनी तमाम व्यस्तताओं के बावजूद इसे नियत तारीख पर उपलब्ध कराने का संकल्प पूरा किया। 'विहान' के कलाकार भी 'विहान संगीत' की प्रस्तुति के ज़रिए इस आयोजन में उत्सवी-माहौल और युवा-ऊर्जा को बिखेरने का प्रयास करेंगे।

अचानक लगने लगा है कि भोपाल में 'अंक' की इस रंग यात्रा के लिए 'विहान' अब तैयार है। खुशी भी है, कुछ चिंता भी पर सबसे बड़ी बात संतोष इस बात का कि जिस तरीके से प्रीता जी ने दिनेश जी का परिचय हमसे करवाया था उसे सोचकर लगता है कि उनके सपने में 'विहान' अपने नन्हें क़दमों से कुछ दूर तो साथ चल ही सका है। यह आयोजन अब एक रंग मनीषी के प्रति न केवल हमारी ओर से आदरंजलि है बल्कि उनके सम्मान और 'अंक' की 40 वर्षों की रंगयात्रा के इतिहास में हमारी छोटी-सी हिस्सेदारी भी और अपने वरिष्ठों को नवाजने की ज़िम्मेदारी भी। भारत भवन की चौखट इंतज़ार कर रही हैं 23, 24 और 25 सितंबर की तारीखों का। आईये इस उत्सव को इन पन्नों पर थाम कर कुछ देर मंचन और कुछ घट जाने का आनंद लिया जाये।

vihaandramaworks

Ank, Mumbai in association with **Vihaan Drama Works, Bhopal**

presents

Dinesh Thakur

Memorial **Theatre Festival** on 40 years of **Ank**

सांस्कृतिक हस्तक्षेप की युवा पहल

विनय उपाध्याय

कठिनाइयों से रीता जीवन मेरे लिए नहीं है। मेरे तूफानी मन को यह स्वीकार नहीं। मुझे तो चाहिए एक महान ऊँचा लक्ष्य और उसके लिए उम्र भर संघर्षों का अटूट क्रम। ओ कला! तू खोल मानवता की धरोहर। अपने अमूल्य कोषों के द्वार मेरे लिए खोल। अपनी प्रज्ञा और संवेगों के आलिंगन में मैं अखिल विश्व को बाँध लूँगा। आओ, हम बीहड़ और कठिन यात्रा पर चलें। क्योंकि छिछला, निरूद्देश्य और लक्ष्यहीन जीवन हमें स्वीकार नहीं।

-कार्ल मार्क्स

यकीनन सृजनात्मक बेचैनियाँ सौगंधों की सतह पर अपने उत्सव रचती हैं। एक ऐसी ही रूपहली दुनिया गढ़ने के इरादे के साथ 'विहान' ने अपनी आँखें खोलीं और मासूम ज़िदों के साथ कला की लुभावनी लेकिन कठिन डगर पर पाँव नापना शुरू किया। भोपाल की हरियाती सांस्कृतिक भूमि पर यह एक और बीज के चटखने की आवाज़ थी। संस्थाओं के बीहड़ में आज जब न्यस्त स्वार्थो और सतही कलाकर्म ने सच्चे सांस्कृतिक पुरूषार्थ को हाशिए पर ठेल दिया है और वणिक समीकरणों में माहिर अधिकांश चतुर सुजानों की पौ बाहर है, तब 'विहान' का बावरा मन अपने सपनों का मिट्टी-गारा संजोकर एक नई कायनात को आकार देने मचल पड़ा है।

दरअसल 'विहान' युवा सनक का नतीजा है। मध्यमार्गी परिवारों से बावस्ता नौजवानों को एक दिन यह सूत्र हाथ लगा कि जीवन को गहरे में समझने और बेहतर बनाने के रास्ते रंगमंच और कलाओं से होकर गुजरते हैं। ये वो ज़रिया है, जहाँ से नई प्रेरणा और सोच का उजाला फूटता है। बस, यही दर्शन नई दिशाओं के सुदूर विस्तार की ओर ले गया। तीन-चार बरस पहले कुछ विलक्षण और जुनूनी नौयुवकों की आँख से देखा सपना अब भोपाल ही नहीं, पड़ौसी शहरों-कस्बों और सूबों से गुजरता देश की सरहद पार तक फैल गया है। 'विहान' एक ऐसे कला-कुटुंब की शक्ल ले चुका है जिसके पास आचरण, अभ्यास, जिज्ञासा, उत्साह, हौसले और परिश्रम की पूँजी है। मन में अपनी परंपरा और सांस्कृतिक मूल्यों के प्रति गहरा मान है। अपने वक्ती तौर की बदलती सूरत और ज़रूरत को लेकर चिंताएँ हैं। यह फ़िक्र भी कि हमारे समय का रंगमंच महज़ मनोरंजन का सतही ताना-बाना नहीं बल्कि सांस्कृतिक हस्तक्षेप और वैचारिक उद्वेलन की जगह भी बनें। दिलचस्प यह कि 'विहान' की अब तक की बहुत छोटी यात्रा में दर्ज सक्रियता के आसपास इन तमाम मंशाओं को साकार होता देखा जा सकता है।

इस मुमकिन और हासिल की वजह 'विहान' का व्यवस्थित विस्तार है जो उसकी गतिविधियों की सुगंभीर संरचना के साथ सबको सविनय अपना हिस्सा बनाता रहा है। मसलन जब नाटक खेलने की बात आयी तो भारतीय रंग दृष्टि और दर्शन को समझने 'विहान' के कलाकारों ने संस्कृति के बहुमान्य अध्येता कपिल तिवारी का सान्निध्य पाया। लोक कलाओं के रहस्य जानने वसंत निरगुणे को आमंत्रित किया। डॉ. विजय बहादुर, उत्तरा बाओकर, राजेश जोशी, संतोष चौबे, संजय उपाध्याय, मकरंद देशपाण्डे रघुवीर यादव, उदयन वाजपेयी, लीलाधर मंडलोई, अतुल तिवारी और मानव कौल से लेकर नरेश सक्सेना और विष्णु नागर जैसे कला-साहित्य के कई स्थापित और अनुभवी हस्ताक्षर 'विहान' की मनुहार पर मार्गदर्शन करने आगे आए। सीमा पार के मुल्कों तक जब कला समूह की आवाज़ गई तो वहाँ के कलाकारों और संस्थाओं ने भी दोस्ताना हाथ आगे बढ़ाया। भोपाल में गए वर्ष आयोजित हुआ 'विहान' अंतरराष्ट्रीय कला महोत्सव (वीफा) इसी वैश्विक सांस्कृतिक मैत्री का एक जीवंत नमूना था।

सच्ची प्रतिभा कभी अलक्षित नहीं होती। सलीका और संकार 'विहान' के हर पहलू में उजागर हैं। एक अनूठा सौन्दर्यबोध और सकारात्मक ऊर्जा का आनंद यहाँ महसूसा जा सकता है। नाटक हो, संवाद के सत्र हों या कार्यशालाएँ हर आयाम अपनी बनक में बेहद सधा हुआ। प्रसिद्ध कवि और भारतीय ज्ञान पीठ के निदेशक लीलाधरण मंडलोई कहते हैं- अक्सर स्थापित कलाकार इसे अपनी बपौती मानकर अपने लिए सुरक्षित रखने की बात करते हैं। 'विहान' का रचनात्मक हस्तक्षेप इसी एकाधिकार को भंगकर सच्चे उत्तराधिकार की प्रतिष्ठा का मंच बनने की तमाम संभावनाओं की आहट देता है।

'विहान' ने अभी जीवन के नेपथ्य में कुछ ही कदम आगे बढ़ाए हैं। रास्ता लंबा है। यहाँ फूल हैं, तो शूल भी हैं। मुस्कान और खरोंचे दोनों का मिलाजुला अहसास। अंधेरे-उजाले की जुगलबंदी के बीच बहुत संयत होकर रफ्तार तय करनी होगी। जिस विनत भाव से सामूहिकता और सहकार की पहचान गढ़ी है, गुणात्मक प्रवृत्तियों का यह प्रवाह कभी सूखने ना पाये।

कभी-कभी भविष्य के हाथों में आकर विरासत कुछ इस तरह सँवरती है कि उसका सौभाग्य बोलने लगता है। 'विहान' के हाथों में कला की विरासत को इसी विश्वास के साथ वक्त देख रहा है।

सांस्कृतिक सरोकारों
और समकालीन कला चेतना का
जीवंत दस्तावेज़

संपर्क

संपादक, रंग संवाद

वनमाली सृजन पीठ

22, ई-7, अरेरा कॉलोनी, भोपाल-462016

मो. 9826256733 मो. 09826392428 फोन : +91-755-2423806

ई-मेल : choubey@aisect.org, vinay.srujan@gmail.com

मुंबई में दिनेश ठाकुर स्मृति अंक सहित 'रंग संवाद' के अन्य अंक प्राप्त करने के लिये संपर्क करें - **09892815391** (शरद)